बच्चों का निर्माण परिवार की प्रयोगशाला में



- श्रीराम शर्मा आचार्य

बच्चों का निर्माण परिवार की प्रयोगशाला में



लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०– २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् **२०१५** मूल्य : ७.०० रुपये

आत्मीय अनुरोध

प्रत्येक बालक आगे चलकर अपने जीवन में बड़ी से बड़ी सफलता प्राप्त कर सकता है, यदि उसके अभिभावक उसके समुचित विकास में पूरा-पूरा सहयोग देने का अपना दायित्व ठीक प्रकार से निवाह सकें। कोई भी बच्चा न तो जन्मजात महापुरुष होता है और न असफल व्यक्तित्व। यह दोनों स्थितियाँ उस नींव के आधार पर बनती हैं, जो बाल्यकाल में उनके माता-पिता द्वारा रखी जाती हैं।

बच्चों के समुचित जीवन विकास में सबसे बड़ा कारण यह होता है कि माता-पिता इस ज्ञान से सर्वथा वंचित रहते हैं कि बच्चों का विकास किस प्रकार किया जाए? बच्चों के व्यक्तित्व की सर्वांगीण उन्नति के लिए उचित वातावरण और आवश्यक परिस्थितियाँ पैदा करना माता-पिता का सर्वोच्च कर्त्तव्य है। बालक सबसे पहले घर के वातावरण से प्रभावित होता है। घर उसकी प्राथमिक पाठशाला है और माता-पिता उसके गुरु। माता-पिता के जीवन का बालक पर गहरा असर पड़ता है। बच्चे को समाज का उत्तम नागरिक बनाने के लिए माता-पिता को उत्तम माता-पिता बनना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक इसी उद्देश्य से प्रकाशित की जा रही है कि माता-पिता अपने बच्चों को आदर्श बनाने के लिए क्या प्रयास करें? यह पुस्तक नव दम्पत्ति एवं जिनके छोटे बच्चे हैं, उनको पढ़ना-पढ़ाना चाहिए। पाठकों को यह पुस्तक अपने पास समुचित संख्या में मँगा कर रखनी चाहिए और नव विवाहितों को उपहार स्वरूप देनी चाहिए।

व्यवस्थापक
युग निर्माण योजना, मथुरा

बच्चों का निर्माण—परिवार की प्रयोगशाला में

चरित्रवान माता-पिता ही सुसंस्कृत संतान बनाते हैं

अँग्रेजी में कहावत है—"दि चाइल्ड इज ऐज ओल्ड ऐज हिज एनसेस्टर्स।" अर्थात् बच्चा उतना पुराना होता है जितना उसके पूर्वज। एक बार संत ईसा के पास आई एक स्त्री ने प्रश्न किया—बच्चे की शिक्षा-दीक्षा कब से प्रारंभ की जानी चाहिए? ईसा ने उत्तर दिया—गर्भ में आने के १०० वर्ष पहले से। स्त्री भौंचक्की रह गई, पर सत्य वही है जिसकी ओर संत ने इंगित किया। सौ वर्ष पूर्व जिस बच्चे का अस्तित्व नहीं होता, उसकी जड़ तो निश्चित ही होती है, चाहे वह उसके बाबा हों या परबाबा। उनकी मन:स्थिति, उनके आचार, उनकी संस्कृति पिता पर आई और माता-पिता के विचार, उनके रहन-सहन, आहार-विहार से ही बच्चे का निर्माण होता है। कल जिस बच्चे को जन्म लेना है, उसकी भूमिका हम अपने में लिखा करते हैं। यदि यह प्रस्तावना ही उत्कृष्ट न हुई तो बच्चा कैसे श्रेष्ठ बनेगा? भगवान राम जैसे महापुरुष का जन्म रघु, अज और दिलीप आदि पितामहों के तप की परिणति थी, तो योगेश्वर कृष्ण का जन्म देवकी और वसुदेव के कई जन्मों की तपश्चर्या का पुण्य फल था। अठारह पुराणों के रचयिता व्यास का आविर्भाव तब हुआ था, जब उनकी पाँच पितामह पीढ़ियों ने घोर तप किया था। हमारे बच्चे श्रेष्ठ, सद्‌गुणी बनें, इसके लिए मातृत्व और पितृत्व को गंभीर अर्थ में लिए बिना काम नहीं चलेगा।

महाभारत के समय की घटना है। द्रोणाचार्य ने पांडवों के वध के लिए चक्रव्यूह की रचना की। उस दिन चक्रव्यूह का रहस्य जानने वाले एकमात्र अर्जुन को कौरव बहुत दूर तक भटका ले गए। इधर पांडवों के पास चक्रव्यूह भेदन का आमंत्रण भेज दिया। जब सारी सभा सन्नाटे में थी, तब १६ वर्षीय राजकुमार अभिमन्यु खड़े हुए और बोले—'मैं चक्रव्यूह भेदन करना जानता हूँ।' युधिष्ठिर ने साश्चर्य प्रश्न किया—तात! मैंने तो तुम्हें कभी

भी चक्रव्यूह सीखते नहीं देखा, नहीं सुना। अभिमन्यु ने कहा—जब मैं अपनी माँ सुभद्रा के पेट में था। माँ को जब प्रसव पीड़ा प्रारंभ हुई, तब मेरे पिता अर्जुन पास ही थे। माँ का ध्यान दर्द की ओर से बँटाने के लिए उन्होंने चक्रव्यूह के भेदन की क्रिया बतानी प्रारंभ की। छः द्वारों के भेदन की क्रिया बताने तक मेरी माँ ध्यान से सुनती रहीं और गर्भ में बैठा हुआ मैं उसे सीखता चला गया, पर सातवें और अंतिम युद्ध की बात बताने से पूर्व ही माँ को निद्रा आ गई, उन्हीं के साथ मैं भी विस्मृति में चला गया। उसके बाद मेरा जन्म हो गया। छः द्वार तो मैं आसानी से तोड़ लूँगा। सातवें में सहायतार्थ आप सब पहुँच जाएँगे, तो उसे भी तोड़ लूँगा।

यह घटना उस सत्य की ओर संकेत करती है कि पुत्र गर्भ में आए उससे पूर्व ही माता-पिता को अपनी शारीरिक और मानसिक तैयारी प्रारंभ कर देनी चाहिए। वर्षों पहले अमेरिका में जन्मे एक बालक की बड़ी चर्चा चली। इस बालक की आँख में 'जे' और 'डी' की आकृति उभरी हुई थी। वैज्ञानिकों ने उसकी बहुत जाँच की, पर कारण न जान पाए। आखिर इस गुत्थी को मनोवैज्ञानिकों ने सुलझाया। युवती ने उन्हें बताया कि मैं अपने विद्याध्ययन काल से ही जान डिक्सन की विद्वत्ता से प्रभावित रही हूँ। मेरी सदा से यह इच्छा रही है कि मेरी जो संतान हो वह जान डिक्सन की तरह ही विद्वान हो। मैंने अपनी यह इच्छा कभी किसी को बताई तो नहीं, पर जब-जब इस बात की याद आती मैं अक्सर दीवाल पर कापी पर जे. डी. अक्षर लिखकर अपनी स्मृति को गहरा करती रही हूँ। उन्होंने अपने अध्ययन काल की कई कापियाँ और पुस्तकें भी दिखाईं, जिनमें जे. डी. लिखा मिला।

हमारे पितामह इन तथ्यों से पूर्ण परिचित थे, तभी उन्होंने न केवल ऐसी जीवन-व्यवस्था निर्मित की थी जिससे जाति स्वतः ही श्रेष्ठ आचरण वाली संतान देती चली जाती थी। गर्भाधान को उन्होंने षोड्श संस्कारों में से एक संस्कार माना था और उसे पूर्ण पवित्रता के साथ संपन्न करने की प्रथा प्रचलित की थी। बालक का निर्माण माता-पिता भावभरे वातावरण में किया करते थे और जैसी आवश्यकता होती थी, उस तरह की संतान समाज को दे देते थे। सती मदालसा ने अपने तीनों पुत्रों विक्रांत, सुबाहु और अरिदमन को

जो शिक्षा-दीक्षा और संस्कार दिए, वे पारमार्थिक और पारलौकिक थे, फलतः उन तीनों ने ही प्रौढ़ावस्था में पहुँचने से पूर्व ही संन्यास धारण कर अपना सारा जीवन लोकमंगल में लगा दिया। वह कहा करतीं थी—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि

संसारमाया परिवर्जितोऽसि।

संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां

मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम्॥

"हे पुत्र! तू अपनी जननी मदालसा के शब्द सुन। तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरंजन है, संसार की माया से रहित है। यह संसार स्वप्न मात्र है। उठ, जाग्रत हो, मोहनिद्रा का परित्याग कर। तू सच्चिदानंद आत्मा है, अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर।"

महारानी की शिक्षा से महाराज ऋतध्वज बहुत चिंतित हुए। उन्होंने मदालसा से कहा कि यदि ऐसा ही रहा तो राज-काज कौन सँभालेगा? इस बार जो पुत्र हुआ उसे मदालसा ने राजनीति की शिक्षा दी और कहा—

राज्यं कुर्वन सुहृदो नंदयेथाः

साधून रक्षस्तात्! यज्ञैर्यजेथाः

दुष्टान्निध्नन वैरिणाश्चाजिमध्ये

गोयिप्रार्थे वत्स ! मृत्युं व्रजेथाः॥

मा. पुत्र. २६/४१

अर्थात् "हे तात! तुम राज्य करो। अपने मित्रों को आनंदित करो, सज्जन पुरुषों की रक्षा करना, यज्ञ करना, गौ और ब्राह्मणों की रक्षा के लिए युद्ध अनिवार्य हो तो युद्ध भी करना भले ही रणभूमि में तुम मृत्यु को प्राप्त हो।"

यह उदाहरण इस बात के प्रतीक हैं कि बालक माता-पिता के शारीरिक और मानसिक साँचे और ढाँचे में ढले, समाज एवं संस्कृति द्वारा संस्कारित मिट्टी के पुतले होते हैं। जैसे माता-पिता होंगे वैसी ही संतान होगी। राम वन गए तब की घटना है। राम ने लक्ष्मण के चरित्र की परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने प्रश्न किया—"हे लक्ष्मण! सुंदर पुष्प, पके हुए फल और मद-मत्त यौवन देखकर ऐसा कौन है जिसका मन विचलित न हो जाए।" इस पर

लक्ष्मण ने उत्तर दिया—"आर्यश्रेष्ठ ! जिसके पिता का आचरण सदैव से पवित्र रहा हो, जिसकी माता पतिव्रता रही हो, उनके रज-वीर्य से उत्पन्न बालकों के मन कभी चंचल नहीं हुआ करते।"

लक्ष्मण का यह उपदेश प्रत्येक माता-पिता को यह सोचने के लिए विवश करता है कि यदि श्रेष्ठ संतान की आवश्यकता है, तो उसे ढालने के लिए अपना चरित्र साँचे की तरह बनाना चाहिए।

संस्कारों की पूर्व सूत्रधार माता ही है। वह जिस तरह के संकल्प और विचार बच्चे में पैदा करती है, वैसी ही उसमें ग्रहणशीलता और आविर्भाव हो जाता है और बाद में उसी तरह के तत्व वह संसार में ढूँढ़कर अपने संस्कारजन्य गुणों का अभिवर्द्धन करता है। संस्कारवान माताएँ बच्चों के चरित्र की नींव बाल्यावस्था में डालती हैं।

संतान के रूप में जीवात्मा का अवतरण और उसकी विकास-यात्रा में योग देना माता-पिता की सबसे बड़ी जिम्मेदारी है। पिता गर्भधारण में केवल सहयोग प्रदान करता है, बाद में उस गर्भ को पकाने का कार्य माता ही करती है, इसलिए पिता की अपेक्षा माता का उत्तरदायित्व अधिक है। बिना उचित ज्ञान और स्थिति की जानकारी हुए माता इस कर्त्तव्य का भली-भाँति पालन कर सकती होगी, यह असंभव है। अतएव महिलाओं को यह ज्ञान होना नितांत आवश्यक है कि संतान कामवासना का परिणाम नहीं है, काम तो मात्र एक प्रेरक तत्त्व है, जो एक आत्मा के अवतरण के लिए माता-पिता को प्रेरित करता है।

गर्भावस्था में बच्चा अपनी माता के केवल प्रकट आचरण से ही प्रभावित नहीं होता, उससे तो बहुत हल्का असर बालक की मनोभूमि पर पड़ता है, अधिकांश प्रभाव तो मानसिक भावनाओं और विचारणाओं का होता है।

बालकों का सांस्कृतिक उत्थान

भूलों, त्रुटियों और पापपूर्ण जीवन को कठोर तपश्चर्या और गहन पश्चाताप के बाद भी उतना पवित्र और निर्मल नहीं बना सकते, जितना प्रारंभिक जीवन में चरित्र निर्माण से ही मनुष्य का जीवन शुद्ध होता है।

अंतर्मन में प्रसुप्त कुसंस्कार जब भी अनुकूल परिस्थिति पाते हैं, तभी मस्तिष्क में घोर क्रांति उत्पन्न कर देते हैं, जिससे आंतरिक पवित्रता पर बार-बार मल विकारों का उतार-चढ़ाव बना रहता है। इस स्थिति के रहते स्वाभाविक उज्ज्वलता आ ही नहीं पाती। इसलिए भारतीय धर्म का निरूपण करने वाले आचार्यों ने यह व्यवस्था पहले ही बना दी थी कि लोगों के चरित्र उनके शैशवकाल में ही दृढ़ कर दिए जाएँ। आयु बढ़ने के साथ उनमें चारित्रिक प्रौढ़ता आती जाती है। ऐसे मनुष्य ही आगे चलकर महान, मनस्वी, तेजवान तथा आत्मबल संपन्न होते हैं। जब तक यह परंपरा देश में यथावत् चलती रही, तब तक यहाँ सुख-शांति और समृद्धि में बिलकुल कमी नहीं रही।

बालकों के नैतिक अपराध आज जिस गति से बढ़ रहे हैं, उन्हें देखते हुए समाज-सुधारकों का चिंतित होना स्वाभाविक ही है। स्वभाव में जब दोष तथा दुर्गुण गहराई तक जम जाते हैं, तो यदि किसी प्रकार के सुधार के कार्यक्रम बनाए भी जाएँ तो उनमें भारी शक्ति लगाकर भी मनोवांछित सफलता नहीं मिलती है। व्यावहारिक कठिनाई यह है कि हमारे अभिभावक इस जिम्मेदारी को उदारतापूर्वक वहन नहीं करते। अधिकांश को तो इस विषय में ज्ञान ही नहीं होता कि बालकों का चारित्रिक विकास किस प्रकार करें? स्वेच्छाचारी बालक समाज के दोष-दुर्गुणों को ही ग्रहण कर लेते हैं, क्योंकि यही सब तो उनके आस-पास जमा होते हैं। बालकों का निर्माण गर्भावस्था में आते ही होने लगता है। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ही भारतीय आचार्यों ने संस्कार-पद्धति चलाई थी। इससे बालकों के नैतिक-प्रशिक्षण में किसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न नहीं होती थी।

दार्शनिक सुकरात के पास एक स्त्री आई। उसने पूछा—"गुरुदेव! अपने बच्चे की शिक्षा मैं कब से प्रारंभ करूँ?"

"बच्चे की उम्र क्या है?" सुकरात ने पूछा।

"चार वर्ष।" स्त्री ने सरलता से उत्तर दिया।

तब तो आप चार वर्ष नौ माह, बच्चे को शिक्षा देने में पीछे रह गईं। सुकरात ने उसका समाधान किया। माता के आहार-विहार आदि से बच्चे के संस्कार बनने प्रारंभ हो जाते हैं। अतएव यह कहना अत्युक्ति नहीं कि

गर्भावस्था से ही बच्चों की शिक्षा प्रारंभ कर देनी चाहिए। हमारे यहाँ यह पद्धति क्रमिक और वैज्ञानिक थी। यही कारण था कि घर-घर ध्रुव, प्रह्लाद, भरत, अभिमन्यु जैसे प्रतिभाशाली बच्चे जन्म लिया करते थे। अब उन प्रथाओं के फिर से जाग्रत करने की आवश्यकता है।

बालकों को संस्कारवान बनाने का अभ्यास उनके गर्भ में आने से ही प्रारंभ करना चाहिए। माता-पिता की मनोदशा का बालक पर प्रभाव पड़ता है। माता के शरीर से रस और रक्त लेकर उसका स्वास्थ्य बनता है। उनके रहन-सहन का सूक्ष्म प्रभाव बालकों की आत्मा पर पड़ता है। अतएव खान-पान, रहन-सहन तथा व्यवहार में माता-पिता को गर्भावस्था में बालक के आते ही सात्विकता का पर्याप्त समावेश कर लेना चाहिए। जो माताएँ मिर्च-मसाले, खटाई, तीखे, कसैले, बासी भोजन का प्रयोग करती हैं, उनके बच्चे अधिकांश क्रोधी, दुष्ट तथा तामसी प्रकृति के होते हैं। वस्त्र, आभूषण, बोली-भाषा आदि का भी गर्भस्थ बच्चे पर प्रभाव पड़ता है। पति-पत्नी में प्रेम और सदाचार न हो तो बच्चे भी दुर्गुणी, नास्तिक तथा चिड़चिड़े प्रकृति के होते हैं। इन सभी बातों का माता-पिता को पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है।

जन्म लेने के पश्चात किशोरावस्था में आने तक बच्चा अधिकांश माता के ही संरक्षण में रहता है। उस समय माता की चेष्टाओं और क्रिया-कलापों का बालक बड़ी सूक्ष्मता से अवलोकन करता रहता है, इसलिए यह समय माता की सबसे बड़ी जिम्मेदारी का होता है। इस अवस्था में बच्चों को भय दिखाना, अपवित्र रखना, उन्हें निद्रा आदि के लिए नशीली वस्तुएँ खिलाना हानिकारक होता है। कामजन्य चेष्टाएँ, क्रोध, कलह आदि का दूषित प्रभाव बालक पर पड़े बिना नहीं रहता। जिन स्त्री-पुरुषों में पारस्परिक स्नेह, प्रेम और मैत्री की भावना नहीं, उनके बच्चे स्वभावतया उद्दंड और स्वेच्छाचारी ही बनते हैं, अतएव यह हमेशा ध्यान बना रहे कि आप कोई ऐसी चेष्टा तो नहीं करते जो बालक के कोमल मस्तिष्क पर अपना बुरा असर डाले।

पाँच वर्ष की अवस्था आ जाने पर बालक की ज्ञान-पिपासा बढ़ने लगती है। अभी तक जिन वस्तुओं को मात्र खेल और तोड़-फोड़ की जरूरत समझता था, अब उनके प्रति उसका जिज्ञासा भाव बढ़ने लगता है। इस उम्र में बच्चों को चित्र, कथा, कहानियाँ बहुत पसंद आती हैं। लोरियाँ व

मधुर संगीत में भी उनकी रुचि जाग्रत होती है। इनके लिए वे कभी-कभी हठ भी करते हैं। इस समय बालकों को सुंदर-सुंदर चित्र जिसमें महापुरुषों के चित्र, प्राकृतिक दृश्य आदि हों, दिखाने चाहिए। कलात्मक वस्तुओं से अपने निवास को सजाना और बालकों में उनके प्रति रुचि पैदा करना चाहिए। महापुरुषों की जीवनियाँ सरल व सुबोध ढंग से सुनानी चाहिए। करुण, शांत और मनोरंजक लोरियों से बालकों का मन बहलाव भी होता है और उनके मनोजगत में सात्त्विक संस्कारों का आविर्भाव भी होने लगता है। इस अवस्था में चाहें तो बच्चे का मस्तिष्क किसी भी दिशा में लगा सकते हैं।

भावी पीढ़ी का निर्माण यों कीजिए

समाज को सुरक्षित बनाने के लिए वर्तमान पीढ़ी को अपने तुरंत बाद आने वाली पीढ़ी को एक सुनिश्चित सामाजिक चेतना के साथ आगे बढ़ाना चाहिए अर्थात् अपने बच्चों का निर्माण इस प्रकार करना चाहिए कि वे अपने को अपने समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग समझें। वे जो कुछ सोचें सामाजिक दृष्टिकोण से और जो कुछ करें समाज को ध्यान में रखते हुए ही करें।

समाज में बुराइयों का जन्म ही तब होता है जब उसके सदस्यों में सामाजिक भावना का अभाव हो जाता है। हर व्यक्ति निरंकुश रूप से, मनमाने ढंग से बरताव करने लगता है। उसको अपने बरताव से दूसरे को होने वाले कष्टों का ध्यान ही नहीं रहता, जिससे कदम-कदम पर संघर्ष होने लगता है और जीवन सुखमय बनने के स्थान पर दुःखमय बन जाता है।

आज भारतीय समाज दिन-दिन दुःखमय बनता चला जा रहा है। उन्नति और प्रगति के प्रचुर साधन होने पर भी इसकी उन्नति एवं प्रगति के सारे मार्ग अवरुद्ध से दिखाई देते हैं। इसके सारे आदर्श, सारी संस्कृति और सारे साधन मौजूद हैं फिर भी यह दिन-दिन गिरता जा रहा है? इसका एकमात्र कारण है, इसकी सामाजिक भावना का ह्रास हो जाना। अपने समाज को प्रगतिशील बनाने के लिए आगामी पीढ़ी का नया निर्माण करना बहुत आवश्यक है।

प्रौढ़ों की अपेक्षा बच्चों का निर्माण अधिक सरल होता है। उसका मानसिक धरातल इतना कोमल और निर्विकार होता है कि उसमें बोए हुए बीज आसानी से फल-फूल सकते हैं। इसलिए सामाजिक कल्याण के लिए बच्चों का एक निश्चित रूप में निर्माण किया जाना चाहिए। बच्चों का सबसे स्थायी और प्रभावपूर्ण निर्माण घर पर अभिभावकों के द्वारा ही हो सकता है।

बच्चों को प्रारंभ से ही एक ऐसे वातावरण में रखना चाहिए, जिससे उनमें उदार भावनाओं का विकास हो। उनको भाई-बहनों से समता का व्यवहार सिखाया जाना चाहिए। जिन घरों में अनेक बच्चे होते हैं, वहाँ बहुधा देखा जाता है कि कोई एक बच्चा माता-पिता का अधिक प्यारा होता है। उसको अन्य बच्चों की अपेक्षा अधिक विशेषता दी जाती है। यह व्यवहार उचित नहीं है। इससे अन्य बच्चों में असमानता का भाव जागता है और वे आपस में एक-दूसरे से असमानतापूर्ण व्यवहार करना सीख जाते हैं। अनेक बार ऐसा होता है कि बच्चों की शिकायत सुनते समय अभिभावक किसी बच्चे का अनुचित पक्षपात कर बैठते हैं, जिससे एक बच्चा ढीठ और दूसरा कायर हो जाता है। यदि इसी प्रकार के पक्षपात की पुनरावृत्ति बहुत बार होती है तो बच्चों में न्याय के प्रति अश्रद्धा और स्वयं के प्रति हीनता का भाव पैदा हो जाता है। अस्तु, अनेक बच्चों के परिवार में बच्चों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाना चाहिए जिससे उनमें समता, सत्यता, न्याय और पारस्परिकता का भाव जगे।

बच्चों से धीरे-धीरे क्रम से ऐसे काम लेने और सौंपने चाहिए, जिससे वे करते समय अपने अंदर एक उत्तरदायित्व अनुभव करें। इन कामों में से एक काम घर का हिसाब रखना भी हो सकता है। किन्हीं मित्रों अथवा संबंधियों को प्रीतिभोज अथवा खाने के समय उन्हें भोजन परोसने में मदद करना चाहिए।

उनको रहन-सहन, ओढ़ने-पहनने और उठने-बैठने का एक सलीका सिखाना चाहिए, जिससे उनमें अस्त-व्यस्तता अथवा लापरवाही का विकार पैदा न होने पाए। शिष्टाचार और मिलनसारिता सिखाने के लिए संबंधियों और मित्रों के यहाँ जाते समय यथासंभव उन्हें साथ ले जाना चाहिए, इससे उनमें परिचय की जिज्ञासा का जन्म होगा और उनके परिचय का क्षेत्र बढ़ेगा। बच्चों को बाहर व्यवहार में आने वाली कुछ छोटी-मोटी बातों का

भी ज्ञान कराना चाहिए। जैसे वह अपने साथियों के साथ कैसा व्यवहार करता है? बाहर अपने से बड़ी आयु वालों के साथ कैसे पेश आता है? वह कहाँ किन-किन बातों में दूसरों से दबता है और कहाँ किन-किन बातों में दूसरों को दबाने का प्रयत्न करता है? यदि बच्चों में ऐसी बातों का पता लगे तो उनमें तत्काल आवश्यक सुधार किया जाना चाहिए। उसके बाह्य व्यवहारों में एक संतुलन पैदा किया जाना चाहिए। बच्चों में सामाजिकता और पारस्परिक स्नेहभाव उत्पन्न करने के लिए कभी-कभी पर्व आदि पर उसे अवसर दिया जाना चाहिए कि वह अपने साथियों को अपने घर चाय-पानी करने या भोजन करने के लिए आमंत्रित करे। इससे उनमें आपस में स्नेह और विश्वास बढ़ेगा और अभिभावकों को उसके साथियों को पहचानने का अवसर मिलेगा। अधिकतर अभिभावक बच्चों पर चारों ओर से एक घेरा डाले रहते हैं, जिससे उनका व्यक्तित्व दबकर रह जाता है। उनको अच्छी-बुरी संगति पर ध्यान रखते हुए उन्हें अपने अनुरूप समाज में घुलने-मिलने और एक-दूसरे को जानने, समझने में बाधा न दी जानी चाहिए।

कुछ ऐसी आवश्यक बातें भी हैं, जो दूसरों के बच्चों के साथ व्यवहार में लाई जानी चाहिए। उनमें से सबसे पहली और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हर बच्चे को बिल्कुल अपने बच्चे के समान समझना और उससे प्यार करना चाहिए। कोई भी बच्चा किसी अभिभावक के सामने आकर यह न अनुभव करे कि वह किसी गैर के सामने खड़ा है। उसे ऐसा अनुभव होना चाहिए कि वह अपने माता-पिता अथवा सगे-संबंधियों के सामने है। किसी भी बच्चे की कोई गलती या बुरा काम करते देखें तो उसे ठीक उसी प्रकार सुधारने की कोशिश की जानी चाहिए जैसे अपने बच्चे को। अधिकतर देखने में आता है कि आपस में दो मित्र एक-दूसरे के अभिभावकों से या तो डरते हैं या बहुत शरमाते हैं। यदि दो मित्र आपस में बैठे हैं और उनमें से किसी के अभिभावक आ जाते हैं तो वे दोनों एकदम सिटपिटा जाते हैं। एक-दूसरे के घरों पर बैठे होने पर अभिभावकों के आने का समय होने पर खिसक जाते हैं। इसका मूल कारण यह है कि अभिभावक अपने बच्चों के मित्रों से परिचित नहीं होते और होते भी हैं तो उनसे ठीक अपने बच्चों जैसा व्यवहार नहीं करते।

बच्चों का नैतिक विकास

बच्चा न तो नैतिक होता है और न अनैतिक, वस्तुतः वह तो विनैतिक होता है, क्योंकि उसका व्यवहार नैतिक नियमों द्वारा अनुशासित नहीं होता। नैतिक व्यवहार सिखाने के पहले बालक को यह सीखना चाहिए कि उसका समाज किस वस्तु को अच्छा और किसको बुरा कहता है? यह सब धीरे-धीरे अपने मित्रों, शिक्षकों तथा माता-पिता से सीखता है। यदि समाज द्वारा मान्य व्यवहार बालक के लिए सुखद है तो उसे वह शीघ्र सीख लेगा और उस प्रकार के व्यवहार प्रदर्शित करने की उसकी आदत हो जाएगी। अतः उचित पथ-प्रदर्शन और शिक्षण से माता-पिता तथा शिक्षकों को यह देखना चाहिए कि सामाजिक संदर्भ में बालकों के अनुभव यथासंभव सुखद हों, तभी वे सरलता से नैतिकता का पाठ सीख सकेंगे। यदि बालक को कोई कार्य करने के लिए विवश किया जाता है तो वह कुछ भी न सीख सकेगा। अतः स्वाभाविक रूप से ही उसे सब कुछ सिखाने का प्रयत्न करना चाहिए।

बचपन में नैतिकता—तीसरे या छठे वर्ष के अंदर नैतिक आचरण के कुछ मूल सिद्धांतों से बच्चों का परिचय हो जाना चाहिए, लेकिन इस काल में बच्चे से यह कहना आवश्यक नहीं है कि कोई कार्य क्यों बुरा है, क्योंकि इस समय बच्चे की मानसिक प्रौढ़ता इतनी अधिक नहीं होती कि वह इन सब बातों को समझ सके। किसी अनुचित कार्य के करने पर उसे कैसा दंड मिलता है? इसी के आधार पर किसी कार्य के औचित्य को वह समझता है। अतः उसके वातावरण के लोग जिस प्रकार के कार्य करने पर उसकी प्रशंसा करते हैं, वह वैसा ही करने का प्रयत्न करता है। इस समय उसकी नैतिकता का स्तर केवल यहीं तक रहता है। इस प्रकार कभी-कभी वह उचित कार्यों को करता है, परंतु वह उनके औचित्य के कारण को नहीं समझता।

पाँच या छह वर्ष के हो जाने पर बच्चे में आज्ञाकारिता की आदत आ जानी चाहिए। अच्छा, बुरा, बहुत ठीक, शरारती इत्यादि शब्दों के प्रयोग से इस समय बच्चे को अच्छे या बुरे का कुछ विचार दिया जा सकता है।

छ: वर्ष की उम्र से लेकर किशोरावस्था आने के पूर्व तक बालक उसी प्रकार आचरण दिखलाने का प्रयत्न करता है जैसा कि उसका समूह उससे अपेक्षा करता है। दस या बारह वर्षों की अवस्था पर बालक नैतिक नियमों में निहित सिद्धांतों को कुछ-कुछ समझने लगता है। विभिन्न परिस्थितियों में अब तक वह नैतिक और अनैतिक व्यवहार के स्वरूप को कुछ हद तक समझ सकता है, परंतु अब भी अपने कार्यों की नैतिकता को पूर्णरूपेण वह नहीं समझ सकता। अत: अब भी उसे दूसरों के निर्णय पर निभर रहना पड़ता है।

दस-बारह वर्ष के बाद बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, वह न्याय और आदर के अर्थ को समझने लगता है। अब वह समझने लगता है कि झूठ बोलना, दूसरों की निंदा करना, गाली देना, कायरता दिखलाना, दूसरों को सताना या हानि पहुँचाना, मित्रों को धोखा तथा दूसरों की वस्तुओं को ले लेना बुरा अर्थात् अनैतिक है। अत: जो झूठ बोलते हैं, धोखा देते हैं अथवा चोरी करते हैं, उनसे वह घृणा करने लगता है।

नैतिक विकास पर प्रभाव डालने वाली बातें—बालक के नैतिक विकास पर उसके वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। वातावरण की जिन बातों से उसका नैतिक विकास प्रभावित होता है, उनमें से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण बातों की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है।

कुटुंब—कुटुंब के लोगों का बालक के नैतिक विकास पर चार प्रकार का प्रभाव पड़ता है।

(१) कुटुंब का व्यवहार बालक के लिए आदर्शस्वरूप होता है, अत: वह उसके अनुकरण की चेष्टा में रहता है। (२) पुरस्कार, प्रशंसा तथा दंड के सहारे कुटुंब बालक को सामाजिक व्यवहार प्रदर्शित करना सिखलाता है। (३) बुरे कार्य के अनुसार दंड देकर कुटुंब बालक को उसके बुरे कार्य की कठोरता को समझाता है। (४) अच्छे कार्य को करने के लिए कुटुंब बालक को अनेक प्रकार की प्रेरणा दे सकता है। इसीलिए कुटुंब को बच्चे की प्रथम पाठशाला कहा गया है।

साधारणत: बालक अपने कुटुंब के बड़े लोगों, जैसे माता-पिता, चाचा-चाची तथा भाई-बहिन के व्यवहार को आदर्श मानता है और उनके

बुरे आचरण को भी अच्छा समझता है और तदनुसार स्वयं व्यवहार दिखलाने का प्रयत्न करता है। माता-पिता का बुरा स्वास्थ्य तथा उनकी मंदबुद्धि, बुरी आर्थिक स्थिति तथा अन्य बातों से घर का वातावरण दूषित हो जाता है। घर के बुरे वातावरण से बालक का नैतिक विकास अवांछित दिशा की ओर जा सकता है और आगे चलकर बालक असामाजिक कार्यों में भाग ले सकता है। लड़कियों को प्रायः घर के अंदर रहना पड़ता है। अतः बुरे वातावरण का उनके नैतिक विकास पर लड़कों की अपेक्षा अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है।

अपराधी लड़कियों के अपने अध्ययन में 'फरनवर्ड' ने देखा कि उनमें से ८७ प्रतिशत कुव्यवस्थित घरों की थीं। अपने चिकित्सालय में लाए गए बालकों के अध्ययन में 'वेंटर' और 'ब्लनचर्ड' ने देखा कि उनमें ९० प्रतिशत बुरे कौटुंबिक वातावरण से आए थे। जब बालक स्कूल जाना प्रारंभ कर देता है तो दिन का उसका अधिकांश समय घर के बाहर ही बीतता है। अब वह प्रौढ़ों की अपेक्षा अपने ही उम्र के अन्य बालकों के संपर्क में अधिक आता है। अतः उसके नैतिक विकास पर उसके साथियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

मनोवैज्ञानिक 'फिट' ने अपने अध्ययन में देखा कि नर्सरी स्कूल के बच्चों के भी नैतिक व्यवहार पर उनके साथियों का प्रभाव पड़ता है। 'वार्नर' ने अपराधी बालकों के अध्ययन से निष्कर्ष निकाला है कि शत प्रतिशत अपराध बुरे साथियों द्वारा अभिप्रेरित किए जाते हैं।

प्रतियोगिता—स्कूल जाने लगने से बालक प्रतियोगिता के खेलों में भाग लेने लगता है। प्रतियोगिता संबंधी खेलों में नैतिक शिक्षा के बड़े अवसर मिलते हैं। खेल में बच्चों को ईमानदार बनने तथा स्वार्थ त्याग करने की शिक्षा मिलती है। खेल में खेल के नैतिक नियमों की जो अवहेलना करता है, उसे अन्य लड़के हेय दृष्टि से देखते हैं। अतः ऐसे अवसरों पर नैतिक नियमों का पालन करना बालक को बड़ा ही आवश्यक जान पड़ता है। जो खिलाड़ी किसी तरह जीतना चाहता है, उसे अच्छा खिलाड़ी नहीं कहा जाता। जो खेल में सारा श्रेय अपने ही पास रखना चाहता है और अपने अन्य साथियों को अपना कौशल दिखलाने का अवसर नहीं देता, उसकी

निंदा की जाती है। इस प्रकार स्कूल के द्वारा आयोजित खेलों से बालकों को नैतिक शिक्षा मिलती है।

जिस स्कूल में स्वशासन के आधार पर विनय स्थापना की व्यवस्था की जाती है, उस स्कूल के बालकों के वांछित नैतिक प्रत्ययों का विकास होता है, क्योंकि इससे आत्मनियंत्रण तथा दूसरों की सुविधाओं पर ध्यान देने की शिक्षा मिलती है। प्रत्यक्ष परिस्थितियों में वास्तविक अनुभूति से बालकों को बहुत कुछ सिखाया जा सकता है। शिक्षकों के आचरण एवं व्यवहार छात्रों के नैतिक विकास में बहुत सहयोगी होते हैं।

पुस्तकें—जिस प्रकार माता-पिता तथा शिक्षकों का प्रभाव बच्चों के नैतिक विकास पर पड़ता है, उसी प्रकार उनके द्वारा पढ़ी हुई पुस्तकों का भी प्रभाव पड़ता है। छपी हुई बातों का प्रभाव पाठक पर बड़ी ही जल्दी पड़ता है। बच्चों के लिए अच्छी पुस्तकों की एक लाइब्रेरी घर में हो अथवा किसी अन्य लाइब्रेरी से पुस्तकें लेकर पढ़ने की सुविधा होनी चाहिए। महापुरुषों के जीवन चरित्र बच्चों को रुचिकर भी लगते हैं और प्रेरणाप्रद भी होते हैं। कहानियों के माध्यम से बच्चों को नैतिकता सिखाना आसान होता है। अच्छी, रोचक, प्रेरणाप्रद एवं शिक्षाप्रद कहानियाँ बच्चों को सुनानी अथवा पढ़ानी चाहिए।

टी. वी., इंटरनेट, सिनेमा—मनोवैज्ञानिकों ने यह जानने का विशेष प्रयत्न किया है कि बालकों के नैतिक विकास पर टी. वी. और सिनेमा का क्या प्रभाव पड़ता है ? जिस प्रकार सिनेमा का व्यक्ति की वाणी और पहनावे पर प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार उसका प्रभाव, उसके नैतिक व्यवहार पर भी पड़ता है। सिनेमा से व्यक्ति के जीवन दृष्टिकोण पर प्रभाव पड़ सकता है। उससे धन और वैभव की इच्छा व्यक्ति में उत्पन्न हो सकती है। उससे उसकी प्रवृत्ति अपराध करने की ओर भी जा सकती है। किशोर अवस्था में बालकों में निर्देश की योग्यता बड़ी प्रबल होती है। अत: इस पर कड़ी दृष्टि रखनी चाहिए कि वे कैसा सीरियल या सिनेमा देखने जा रहे हैं। इंटरनेट पर अनेक वेवसाइट बच्चों को विष पिला रही है। नैतिकता के लिए केवल बुद्धि की ही आवश्यकता नहीं होती। यद्यपि नैतिकता के विकास में बुद्धि की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि किसी परिस्थिति की अच्छाई और बुराई को समझने के लिए बुद्धि की आवश्यकता होती है, परंतु इसे समझने के लिए बहुत ही

उत्कृष्ट कोटि की बुद्धि की आवश्यकता नहीं। एक सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति भी इसे सरलता से समझ सकता है। 'टरमन' को १००० बालकों के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि उनमें १३० बुद्धिलब्धि वाले ईमानदारी, सचाई तथा अन्य समान नैतिक गुणों में सामान्य बालकों की अपेक्षा कहीं अधिक आगे बढ़े हुए थे।

'विगम' का कथन है कि बुद्धि नैतिक व्यवहार के साथ-साथ इसलिए चलती है, क्योंकि बुद्धिमान लड़के समझते हैं कि उचित व्यवहार ही बुद्धियुक्ति आचरण है। बुद्धिमान लड़के प्राय: नैतिक व्यवहार दिखलाते हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि ऐसा व्यवहार ही सबसे अच्छा फल देगा। एक बुद्धिमान बच्चा अथवा प्रौढ़ व्यक्ति यह शीघ्र समझ लेता है कि जीवन में जो कुछ वह चाहता है, उसे बेईमानी और धोखे की अपेक्षा ईमानदारी और सचाई के सहारे अधिक सरलता से पा सकता है।

शरारतें—कुछ बच्चे अपने मन में यह धारणा बना लेते हैं कि ऊधम करने से वे दूसरों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकर्षित कर सकेंगे। इन ऊधमों के कारण दंड पाने पर भी वे अपने ऊधमों को शीघ्र नहीं छोड़ते, क्योंकि दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में उन्हें कुछ विशेष आनंद आता है।

कुछ बड़े बच्चों का समूह शरारतें करने में विशेष आनंद का अनुभव करता है। दूसरों को चिढ़ाने, दरवाजे की घंटी बजाने, चुपके से साइकिल या मोटर साइकिल के टायरों की हवा निकाल देने, सड़कों, रास्तों या दीवालों पर मनमाने चित्र बनाने या लिख देने में समूह का प्रत्येक सदस्य आनंद लेता है, क्योंकि वह समझता है कि परिस्थिति का वह पूरा स्वामी है। स्कूल में दूसरे बालकों के साथ कानाफूसी करने, इधर-उधर कागज के टुकड़े पहुँचाने तथा दूसरे बच्चों को तंग करने से दंड पाने पर भी कुछ बालकों को इसमें आनंद आता है, क्योंकि वे सोचते हैं कि वे दूसरों के ध्यान के केंद्र हो जाते हैं।

कुछ व्यक्तियों के व्यवहार में सारे बचपन शरारत पाई जाती है। बचपन में बालक माता-पिता के नियंत्रण को ढीला कर समूह के नियंत्रण में आ जाता है। अत: इस काल में उसमें शरारतों का पैदा होना स्वाभाविक है।

अतः इस काल की शरारतों से माता-पिता तथा शिक्षक का घबड़ाना ठीक नहीं। घर पर की जाने वाली शरारतों में बिस्तर पर पेशाब कर देना, ऊधम मचाना, छोटे बच्चों को अनायास पीट देना, मटरगश्ती करना, अवज्ञा करना, अनियमितता, झूठ बोलना तथा चोरी करना आदि के नाम लिए जा सकते हैं। ये सभी शरारतें बच्चे के अप्रौढ़ता के लक्षण हैं। मनोवैज्ञानिक नियंत्रण और व्यवहार दिखलाने पर इनमें से अधिकांश स्वतः दूर हो जाते हैं।

तरुणावस्था के पूर्व अर्थात् ग्यारह से चौदह वर्ष के लगभग बच्चों में स्वार्थपरता तथा उत्तरदायित्व से भागना अधिक देखा जा सकता है। इस समय उन्हें अपने व्यक्तित्व स्थापना की कुछ चिंता हो जाती है। अतः अपने कार्यों में दूसरों के हस्तक्षेप का भी वे कभी-कभी स्पष्टतः विरोध करते हैं।

बच्चों के झूठ—बच्चों की शरारतों में 'झूठ बोलने' का मनोवैज्ञानिकों ने विशेष अध्ययन किया है। 'लेनार्ड' ने बच्चों के ७०० झूठ का अध्ययन किया है और उसमें देखा है कि उनमें ६८ प्रतिशत दूसरों द्वारा अस्वीकृति तथा दंड के भय से थीं। उनमें से १२ प्रतिशत बच्चों की कल्पना अथवा अतिशयोक्ति के कारण और २० प्रतिशत जानबूझकर कल्पना के कारण अथवा धोखा देने के उद्देश्य से थीं।

कुछ लड़के और लड़कियाँ दंड के भय से दूसरों को दोष देती हैं। लड़के झूठ बोलकर दंड से बच जाने में प्रायः अपनी बहादुरी समझते हैं, जबकि प्रौढ़ लोग शेखी में अनायास झूठ बोला करते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन में देखा है कि झूठ बोलने वाले बच्चे प्रायः ऐसे अव्यवस्थित घरों से आते हैं, जहाँ उन्हें कोई प्यार नहीं करता और जहाँ उन्हें अस्थिर विनय नियमों का पालन करना होता है। ऐसे बच्चों की माताओं के अध्ययन से पता चला कि उनमें से लगभग ६७ प्रतिशत अपने बचपन में बहुत झूठ बोलती थीं।

बेईमानी—बच्चों की बेईमानी के संबंध में 'हर्टशोन' और 'मे' ने ११००० बच्चों का कुछ परीक्षणात्मक अध्ययन किया। अपने अन्वेषण के आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि धोखा देने में लिंग भेद विशेष उल्लेखनीय नहीं है। उनका कहना है कि बड़े बच्चे छोटे बच्चों की अपेक्षा अधिक धोखा देते हैं। ऊँची सामाजिक और आर्थिक स्थिति वाले बच्चे निम्न

सामाजिक और आर्थिक स्थिति वाले बच्चों की अपेक्षा कम धोखा देते हैं। ईमानदारी और बेईमानी बहुत हद तक परिस्थिति विशेष तथा बच्चों के निहित उद्देश्य पर निर्भर करती है, न कि किसी सामान्य नैतिक गुण पर। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक परिस्थिति में बालक ईमानदार हो सकता है और दूसरी परिस्थिति में बेईमान तथा एक परिस्थिति में उसके निहित ध्येय के अनुसार बेईमानी का लक्षण उसमें देखते हुए भी उसे ईमानदार कहा जा सकता है और दूसरी परिस्थिति में उसके ध्येय के अनुसार उसे बेईमान कहा जा सकता है।

बच्चों का निर्माण वाणी से नहीं, आचरण से किया जाए

राजनैतिक से लेकर सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में वक्ताओं की कमी नहीं है। जुआ, नशा, सिनेमा, टी. वी., असंयम, आलस्य, कुविचार जैसे दुर्गुणों पर इनके व्याख्यान आए दिन होते रहते हैं, परंतु उनका प्रभाव सुनने वाले व्यक्ति पर नहीं पड़ता है। इन बुराइयों के परित्याग कराने में उच्चकोटि के श्रेष्ठ संस्कार वाले व्यक्ति ही सफल होते हैं क्योंकि वे अपनी वाणी से नहीं अपने आचरण एवं व्यक्तित्व द्वारा दूसरों को प्रभावित करते हैं। इनके प्रभाव से दुराचारी, अचरित्रवान तथा दुष्ट भी संत बनते देखे जाते हैं। व्यक्ति की गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर देना, इन्हीं के द्वारा संभव होता है।

वाणी की चतुरता की कला को अब जनता द्वारा उपेक्षित किया जा रहा है। लोग इससे कुछ मनोरंजन भले ही कर लें, परंतु उनके आचरण में परिवर्तन संभव नहीं है। यह तथ्य जितना सामाजिक क्षेत्र में लागू होता है, उतना ही पारिवारिक क्षेत्र में। हम चाहते हैं कि हमारे परिवार के बच्चे सभी हमारा कहना मानें, उनके आचरण श्रेष्ठ हों, तो उनके सामने अपना श्रेष्ठ आचरण प्रस्तुत करना होगा। समझाने-बुझाने का कुछ-न-कुछ प्रभाव तो पड़ता ही है, परंतु स्वभाव, विचार एवं भाव में परिवर्तन करना हो, तो पहले स्वयं का निरीक्षण एवं उसमें आवश्यक सुधार करना होगा। उत्कृष्ट व्यक्तित्व का प्रभाव ही परिवार के सदस्यों पर पड़ता है। जलता हुआ दीपक ही दूसरे दीपक को जला सकता है।

परिवार में शांति एवं व्यवस्था भी तभी रह सकती है, जब परिवार में सज्जनता, स्नेह, सदाचरण की गतिविधियाँ अपनाई जाएँ। आज चारों तरफ जो दूषित वातावरण फैला है, उससे लोग शीघ्र ही प्रभावित होते हैं। अच्छाई की अपेक्षा बुराई शीघ्र ही ग्रहण की जा सकती है। परिवार के बड़ों का अनुकरण अन्य सदस्य एवं बच्चे शीघ्र ही कर लेते हैं। घर में व्यक्ति की आदतें नंगी होती हैं क्योंकि अपने दुर्गुणों की पूर्ति वह घर के वातावरण में स्वतंत्र रूप से करता है। घर के बाहर तो ढोंग से भी काम चल जाता है।

परिवार में दुर्गुणी सदस्य उतना ही दु:ख देते हैं, जितना कोई कष्टसाध्य रोग। इनका सुधार करना उतना ही आवश्यक है, जितना कि बीमार को निरोग बनाना। इसकी उपेक्षा करने से परिजनों में घुसे दुर्गुण पूरे परिवार की सुख-शांति को नष्ट कर नारकीय स्थिति बना डालते हैं। दुर्गुणों के उपचार के लिए आरंभिक स्तर पर ही प्रयास किया जाना चाहिए, अन्यथा परिपक्वता आ जाने पर सुधार की गुंजाइश बहुत ही कम रह जाती है।

परिवार को सुधारने की इच्छा रखने वालों को सर्वप्रथम अपने आपको सुधारना चाहिए क्योंकि वास्तविक प्रवचन यही है कि माता-पिता के ऊपर बच्चों को जन्म देने का ही नहीं उन्हें सुसंस्कारी बनाने का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। बच्चों की आदतों के ठीक न होने का अधिकांश दोष उनके अभिभावकों को ही दिया जा सकता है। लाड़-प्यार में माँ-बाप बच्चों पर बहुत अधिक खर्चा करते रहते हैं। परिणामस्वरूप बच्चा पैसे का मूल्य समझ नहीं पाता तथा फिजूलखर्ची की आदत सीख जाता है। यही आदत बड़े होने पर अपव्यय के रूप में देखी जाती है।

माता-पिता में जो परस्पर कलह-संघर्ष होता रहता है, उसका प्रभाव बच्चे के कोमल हृदय पर पड़ता है। वे भी द्वेष, घृणा, कटुता की भावनाएँ अपना लेते हैं, जिसका परिणाम आगे चलकर पारिवारिक जीवन के लिए घातक सिद्ध होता है। जिस माता के हृदय में अपने बड़ों के प्रति श्रद्धा होगी, उसके बच्चे भी अपने माता-पिता, बड़ों के प्रति श्रद्धावान एवं भावनाशील होंगे।

माता-पिता के संयोग से बच्चे का शरीर ही नहीं बनता, वरन् उनकी मानसिक स्थिति के आधार पर ही बालक का मन भी विनिर्मित होता है। जो

अभिभावक स्वयं दुर्गुणी एवं कुसंस्कारों से भरे हैं, उनके बच्चों में भी प्रायः उसी स्तर के संस्कार आएँगे। अच्छी संतान सुसंस्कारी माता-पिता प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न कर सकते हैं। इसके लिए माँ-बाप को पहले अपने आपको संस्कारवान बनाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। कुसंस्कारी बच्चे तो पैदा होते ही रहते हैं और समाज के लिए भार बनते देखे जाते हैं। यदि सुसंस्कारी बच्चों की कामना है तो उसके लिए स्वयं में परिष्कार करना ही होगा, अन्यथा यह कामना छोड़ देनी चाहिए यदि दुर्गुणी बच्चे जन्में तो उन्हें अपनी करनी का फल मानकर संतोष करना चाहिए।

एक संत के पास एक महिला यह मानकर पहुँची कि उनकी बातों का प्रभाव शीघ्र ही पड़ता है तथा व्यक्ति अपने अवगुणों को छोड़ देता है। उस महिला का बच्चा शक्कर खाता था, जिससे उसका स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। डॉक्टरों एवं स्वयं उसके द्वारा समझाए जाने का उस बालक के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। संत ने उससे पंद्रह दिन का समय माँगा तथा उसके बाद आने को कहा।

इस अवधि के बाद वह अपने बच्चे को लेकर पहुँची। संत ने बच्चे से शक्कर न खाने का उपदेश दिया। परिणामस्वरूप उसी दिन से उसने शक्कर खाना छोड़ दिया। निकट रहने वालों ने संत से इसका रहस्य पूछा कि इतनी-सी बात तो आप पंद्रह दिन पहले भी कह सकते थे, फिर इतना समय लेने का क्या कारण था? उन्होंने बताया कि वह स्वयं उन दिनों शक्कर बड़ी रुचि के साथ खाते थे, इसलिए उनके द्वारा दिए गए उपदेश का प्रभाव उस समय बच्चे पर नहीं पड़ता। इन पंद्रह दिनों में उन्होंने स्वयं शक्कर का त्याग किया जिससे यह संभव हो सका कि बच्चे को शक्कर छोड़ने का उपदेश दे सकें।

प्रत्येक माता-पिता एवं अभिभावक अपने बच्चों को राम, कृष्ण, श्रवण के रूप में देखना चाहते हैं, परंतु यह नहीं सोचते कि दशरथ, वसुदेव के समान पहले इस इच्छा की पूर्ति के लिए मूल्य चुकाएँ। गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से अपने को इस योग्य बनाएँ कि उनके बच्चे भी श्रेष्ठ आचरण करें। वाणी की अपेक्षा अपना अनुकरणीय आचरण सामने प्रस्तुत करके बच्चों का सुधार आसानी से कर सकते हैं।

पहले अभिभावकों को ही शालीनता का पाठ पढ़ना होगा

विख्यात समाजशास्त्री डॉ० जेम्स बोसार्ड ने अपने जीवन के ४० वर्ष आज के पारिवारिक जीवन की सबसे उपेक्षित समस्या का समाधान निकालने और बच्चों के पालन-पोषण की सही रीति-नीति के अनुसंधान में लगाए हैं। अपने अनेक प्रयोगों में से एक का निष्कर्ष बताते हुए उन्होंने लिखा है कि विभिन्न परिवारों के व्यक्ति यों द्वारा भोजन के समय की जाने वाली बातचीत के विषय का अध्ययन करते समय मैं यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि कुल वार्त्तालाप का ९९ प्रतिशत से भी अधिक दूसरों की निंदा से संबंधित था। निंदा की यह पद्धति इतनी अधिक प्रचलित है कि शायद इन परिवारों के लोग दूसरों की प्रशंसा में एक शब्द भी नहीं कहते हैं। दोस्तों, रिश्तेदारों, पड़ोसियों, उधार देने वाले दुकानदारों, धोबियों, ग्वालों सभी की वे निंदा ही निंदा करते हैं। परिवार का यह निंदामय वातावरण, अभिभावकों की उपेक्षावृत्ति और लापरवाही के कारण बच्चों के कोमल मस्तिष्क पर जहर-सा खतरनाक असर करता है। ऐसे परिवारों के बच्चे अधिकतर समाज विरोधी और क्रोधी स्वभाव के हो जाते हैं। ऐसे परिवारों के छोटे-बड़े सदस्य साधारण-सी बातों पर अपनी तुनकमिजाजी का प्रदर्शन करते रहते हैं और आपस में झगड़ते रहते हैं। बच्चे भी इन दुष्प्रवृत्तियों का चोरी-छिपे अनुकरण करने में गर्व महसूस करते हैं, जिन्हें वे अपने दैनिक जीवन में परिवार में देखते हैं।

ऐसे भी परिवार हैं, जिनके सदस्य अपने शिष्ट एवं सौम्य व्यवहार से बच्चों के मानसिक विकास में अपना योगदान देते हैं। अपनी आपसी बात में उन्हें भी हिस्सा लेने देते हैं तथा उनका उत्साहवर्द्धन करते हैं। सुझाव देते हुए डॉ० बोसार्ड का कहना है कि अभिभावकों को अपनी बातचीत की पद्धति बदल देनी चाहिए, जिससे बच्चों को स्वस्थ वातावरण मिल सके। इस बात पर हमेशा ध्यान देना जरूरी है कि हम जो बातें करते हैं, उस पर बच्चे भी अपना विचार प्रकट करना चाहते हैं। भले ही वे विचार अपरिपक्व हों, हमें उन्हें गौर से सुनना चाहिए अन्यथा उनके विचार सदैव के लिए अपरिपक्व ही रह जाएँगे।

डॉ० बोसार्ड का कथन है—"आपको सही तरीका नजर नहीं आए तो आप उस मशहूर वकील का तरीका अपनाइए जो प्रतिदिन अपनी पारिवारिक गोष्ठी में एक प्रश्न उठाता था। उसकी पत्नी और बच्चे एक-एक करके उसका समाधान करने की चेष्टा करते थे। अंत में वह सही उत्तर बताता था। वकील के इस प्रयास से बच्चों की तर्क-बुद्धि और ज्ञान का विकास तो होता ही था, आवश्यक निंदाओं और आलोचनाओं की बुरी आदतों से भी उनकी अनायास ही रक्षा हो जाती थी।"

बच्चों के सद्गुण जगाए और बढ़ाए जाएँ

हम सब अभिभावकों का कर्त्तव्य है कि बच्चों में प्रतिष्ठा का भाव बढ़ाने में सहयोग करें। बच्चों को ऐसे गुण और ऐसी परिस्थितियाँ दें, जिससे कि उनकी प्रतिष्ठा बढ़े, वे उसका मूल्य समझें, आगे चलकर भी उसकी रक्षा करते हुए एक सफल नागरिक सिद्ध हों।

प्रतिष्ठा का सबसे बड़ा आधार है—सद्गुण। धन-वैभव, जमीन-जायदाद, व्यापार-व्यवसाय, संपन्नता, सुविधा-साधन अथवा दल-बल को प्रतिष्ठा का हेतु मानने वाले भूल करते हैं। यह सब चीजें तो दुष्ट तथा दुराचारी व्यक्ति को भी मिल जाती हैं, किंतु इससे वह प्रतिष्ठा का अधिकारी नहीं बन जाता। दुर्गुणी व्यक्ति कितना ही धनवान अथवा बलवान क्यों न हो, प्रतिष्ठा का अधिकारी नहीं हो सकता। उसके प्रति मान-सम्मान, आदर-सत्कार का भाव या तो वही दिखला सकता है जो स्वयं उस जैसा ही दुर्गुणी होगा अथवा कोई स्वार्थी चाटुकार। कोई भद्र पुरुष तो दुष्ट का आदर नहीं कर सकता, चाहे वह कितना ही बलवान अथवा धनवान क्यों न हो?

सच्ची प्रतिष्ठा का आधार सद्गुण ही माने गए हैं। ऐसे एक नहीं हजारों सत्पुरुष संसार में हुए हैं और आज भी हैं, जो धन के दृष्टिकोण से कुछ भी न होते हुए भी गुणों के कारण समाज ने उनको सदा सिर आँखों पर बिठाया है। इसलिए प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए बच्चों को धनवान बनाने की अपेक्षा गुणवान बनाने की ओर अधिक ध्यान दीजिए।

बच्चों को गुणों में सबसे पहला गुण सिखाइए—**शिष्टता**। शिष्टता बच्चों का वह दिव्य अलंकार है जो उनको अत्यधिक आकर्षक बना देता है। सबसे विनम्रतापूर्वक मीठी बोली बोलने वाले, गुरुजनों का यथायोग्य आदर करने वाले बच्चे सबको प्यारे लगते हैं। जो भी उन्हें देखता है, प्रसन्न हो उठता है। उनकी मुस्कान भरी मीठी बोली सुनने के लिए लालायित रहता है। उनसे अच्छे-अच्छे प्रश्न पूछकर प्यारे-प्यारे उत्तर सुनने के लिए उत्सुक रहता है। मुँह पर उन्हें शाबाशी देता है, पीठ और सिर पर हाथ फेरता है, पीछे सराहना करता है और दूसरे बच्चों को वैसा बनने की प्रेरणा देता है। शिष्ट बच्चे सबके लिए आकर्षक, श्लाध्य तथा प्यारे होते हैं। यही लोकप्रियता बच्चों की प्रतिष्ठा है, जिसे दिलवाने के लिए अभिभावकों को उन्हें शिष्टाचार के साँचे में ढालना चाहिए।

दूसरा गुण उन्हें **परिश्रम** तथा **परोपकार** का दीजिए। परिश्रमी बच्चे स्वस्थ रहते हैं एक बात, दूसरे वे आलसी न होने से आज्ञाकारी भी होते हैं। उनमें स्फूर्ति, ताजगी तथा प्रसन्नता बनी रहती है, जिससे वे न केवल मन लगाकर पढ़ते ही हैं, बल्कि सहज ही अपने पाठों को हृदयंगम भी कर लेते हैं। जो बच्चे पढ़ने में तेज हों, तुरंत आज्ञा का पालन करने वाले हों, वे किसका हृदय न जीत लेंगे ? संपर्क में आने वालों की सद्भावना पा लेने वाले बच्चे प्रतिष्ठित ही माने जाएँगे।

बच्चों का परोपकार उनकी सेवा-भावना में ही निहित रहता है। उनके लिए जरूरी नहीं कि वे दानी हों, जरूरी नहीं है कि आवश्यकता के स्थानों में जाकर शारीरिक अथवा आर्थिक परोपकार करें, नंगों को वस्त्र एवं भूखों को भोजन दें। बच्चे इस स्थिति में नहीं होते। उनका परोपकार तो दूसरों की सेवा ही माना गया है। घर में वृद्धजनों की सुविधा का ध्यान रखना, छोटे भाई-बहिनों को साफ-सुथरे रहने तथा पढ़ने-लिखने में सहायता करना, अपने निर्धन साथियों को समय-समय पर अपनी पुस्तकें उधार दे देना, उनका पाठ तैयार करा देना अथवा कोई अस्वस्थ हो गया है तो उसकी देख-रेख तथा परिचर्या करना आदि वे सेवाएँ हैं, जो उनका परोपकार ही माना जाएगा। बाजार जाते समय पड़ोस की नानी, दादी, ताई अथवा किन्हीं वृद्धजनों का सौदा ला देना, छोटे बच्चों को साथ लेकर स्कूल पहुँचा देना

अथवा जो बच्चे स्कूल नहीं जा पाते, उन्हें थोड़ा-बहुत पढ़ा देना, उनका परोपकार ही है। बच्चों का यह परोपकार उन्हें कितनी प्रतिष्ठा दिला सकता है, इसका अनुमान तो तभी लग सकता है, जब हमारे बच्चे वैसे बनें और वैसा करते दिखलाई दें। परोपकारी बालक एक स्थाई स्वभाव तथा स्थिर प्रतिष्ठा सहज ही अर्जित कर लेते हैं, जो आगे चलकर भी उनके साथ बनी रहती है, जो उनके सफल नागरिक बनने में सहायक होती है।

बच्चों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए उन्हें **स्वच्छता** तथा **व्यवस्था** का गुण दीजिए। शिष्टाचारी, सदाचारी तथा सेवाभावी बनाने पर भी यदि आप उन्हें स्वच्छता तथा व्यवस्थाप्रिय न बना सके तो मानिए उनको बहुत कुछ देकर भी कुछ न दिया। जहाँ उनके अन्य गुण उनके अंक बढ़ाएँगे, वहाँ गंदगी तथा असभ्यता उनके नंबर कटवा देगी। गंदे आदमी से कोई सेवा भी लेने को तैयार नहीं होता। गंदे बच्चे गुणी होने पर भी कम ही पसंद किए जाते हैं। अव्यवस्थित स्वभाव के बच्चों से अनुशासनहीनता हो जाने का भय रहता है। सब कुछ अच्छा करते हुए भी उन्होंने यदि भूल से भी कोई अनुशासनहीनता कर दी तो सारे किए कराए पर पानी फिर जाएगा। अव्यवस्थित अथवा अस्त-व्यस्त बालक से काम लेते भी डर लगता है कि कहीं यह काम बनाने के बजाए बिगाड़ न दे। यदि सेवा-भाव से किया हुआ किसी का काम बिगड़ जाए तो बड़ी हानि होती है। अच्छाई में बुराई पैदा हो जाती है। लोग यही समझते हैं कि यह तो बेगार टालता है अथवा काम बिगाड़ने के लिए ही सेवा का नाटक करता है। यह भयानक अपवाद होगा। इससे बच्चे की प्रतिष्ठा बढ़ने की जगह वह दूसरों की नजरों से गिरेगा ही। अस्तु, उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाने की दिशा में उन्हें स्वच्छता तथा सुव्यवस्था का गुण देना एक बड़ी सहायता है।

जो अभिभावक अपने बच्चों का सम्मान स्वयं नहीं करते, उन्हें या तो महत्त्वहीन समझकर तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं अथवा उनकी उपेक्षा करते हैं, वे समाज में भी उनकी उपेक्षा की भूमिका बना देते हैं, और तो और उसके समीपस्थ साथी तथा सहपाठी तक यह कहकर व्यंग्य करते रहते हैं, क्या बातें बनाते हो दिन भर तो घर पर धत्तेरे की होती रहती है, कोई दो कौड़ी का पूछता नहीं, छोटे भाई तक किसी गिनती में नहीं लाते और यहाँ हम सबके

बीच शान दिखाते हो, यह बात तो उनके सामने करो जो तुम्हारी दशा जानता न हो। अभिभावकों से अनाहत बच्चे समाज में अनायास ही अनाहत हो जाते हैं। लोग यह समझकर उनका उपहास करते हैं कि जरूर ही इसमें कोई दुर्गुण होंगे, तभी तो घर पर इसका कोई आदर नहीं होता। बच्चों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए स्वयं भी उनका उचित सम्मान करिए। उनके स्वभाव, सद्व्यवहार, उनके अधिकारों की रक्षा तथा उनके साथ प्रेमपूर्वक बोलना ही उनका आदर है, जो हर अभिभावक को करना ही चाहिए। माता-पिता तथा भाई-बहिनों से आदर पाए हुए बच्चे साथियों की दृष्टि में अनायास ही ऊँचे उठ जाते हैं और वे प्रभावित होकर उनका आदर करने लगते हैं।

किसी का आदर-सम्मान उसकी संगति के आधार पर भी होता है। जिसकी संगति खराब है, वह बुरा बनेगा और जो बुरा है, उसको प्रतिष्ठा पाने का अधिकार भी क्या हो सकता है? कुसंग वाला बच्चा जहाँ भी जाएगा लोग उसे दूर रखने की कोशिश करेंगे। न कोई ठीक से बात करेगा और न उसकी किसी बात की ओर ध्यान दिया जाएगा। एक बार को यदि वह स्वयं खराब न भी हो, तब भी लोग संगति के कारण उस पर विश्वास न करेंगे। सभी लोग उसका अपने बच्चों के साथ मिलना-जुलना नापसंद करेंगे और उसके आने पर आपत्ति करेंगे। कुसंग अप्रतिष्ठा का बहुत बड़ा कारण है। इससे बच्चों को अवश्य ही बचाए रखना चाहिए। बच्चे की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए आपका कर्त्तव्य है कि उसे अच्छे साथी चुन सकने में मदद दीजिए। ऐसे परिवारों से संपर्क करिए जिनके बच्चे सज्जन तथा शिष्ट हों। ऐसे परखे हुए बच्चों को घर पर प्यार से बुलाइए, जो पढ़ने-लिखने में तेज तथा अपने माता-पिता द्वारा शुभ संस्कारों में ढाले गए हों। इस प्रयत्न से आपके बच्चों का संपर्क अच्छे बच्चों के साथ हो जाएगा। बच्चों को कुसंग-सुसंग की हानि-लाभ बतलाएँ और इस बात की प्रेरणा दें कि ऐसे बच्चों से ही मित्रता करें, जो सभ्य तथा सुशील हों। सुसंगति से ही मनुष्य गुणवान बनता है और गुणों के आधार पर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। बच्चों की प्रतिष्ठा के लिए उनको उचित साथी चुन सकने में मदद देने में प्रमाद न करें।

बच्चों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए उसके साथियों से प्यार भरा व्यवहार करना चाहिए। बहुत से अभिभावकों को अपने बच्चों के साथी देखे नहीं

भाते। यदि उनमें से कोई घर आ जाता है तो उनकी आवाज में नाराजगी तथा दृष्टि में तीक्ष्णता आ जाती है। बच्चे के साथी से प्यारपूर्वक बोलना तो दूर उसका अभिवादन स्वीकार करने का भी शिष्टाचार नहीं करते। यदि कोई बच्चा साथी को पूछने आ जाता है तो उसे ऐसे कर्कश तथा तीखा उत्तर देते हैं कि बेचारे का दिल टूट जाता है और रोता हुआ-सा वापस चला जाता है। ऐसे कठोर एवं अशिष्ट अभिभावकों के बच्चे साथियों द्वारा सम्मान नहीं पाते। कभी-कभी बदले में उनके अभिभावकों से कर्कश व्यवहार भी पा जाते हैं। कर्कश अभिभावक बच्चों की प्रतिष्ठा के बड़े गहरे दुश्मन होते हैं। जो अभिभावक बच्चों के मित्रों को उनकी तरह ही प्यार करते हैं, उनको वात्सल्य देते हैं, उनका हित-चिंतन करते हैं, उनके बच्चों का सर्वत्र सम्मान होता है। साथी माता-पिता के सद्व्यवहार से परिप्लावित होकर साथी को सिर आँखों चढ़ा लेते हैं। इसलिए बच्चे का सम्मान बढ़ाने के लिए अभिभावकों को चाहिए कि वे उसके साथियों से सद्व्यवहार ही करें। थोड़ा-सा प्रेम, थोड़ी-सी सद्भावना और थोड़ी-सी मधुरता लिए दो ममत्व भरे शब्द किन्हीं साथियों को ओत-प्रोत करने के लिए पर्याप्त है। ऐसा करने से पास से क्या जाता है? हर कोई कर ही सकता है।

बच्चों का निर्माण-आवश्यक सावधानियाँ

बच्चा घर में शैतानी करता या उद्दंडता बरतता है तो माँ अक्सर कहती है—"आजकल मास्टर लोग स्कूलों में पढ़ाते तो है नहीं, यों ही निठल्ले बैठे रहते हैं और विद्यार्थियों पर कोई ध्यान नहीं देते। इसीलिए तो देखो न, लड़का कैसी-कैसी शैतानियाँ करना सीख गया है।" दूसरों पर दोषारोपण कर स्वयं को निर्दोष साबित करने की प्रवृत्ति हर जगह पाई जाती है। कई मामलों में दूसरे दोषी हो भी सकते हैं, पर बच्चों के संबंध में ऐसा कहना एकदम अपनी लापरवाही का शर्मनाक परिचय देना है, क्योंकि बच्चा जो कुछ सीखता है, उसका अस्सी प्रतिशत भाग घर में ही पाया हुआ होता है। वैसे भी बच्चा चार-पाँच घंटे से अधिक स्कूल में नहीं रहता और शेष सारा समय घर में माता-पिता के संरक्षण में व्यतीत करता है। पिता भी उपार्जन,

निर्वाह-व्यवस्था के लिए अपना अधिकांश समय बाहर ही गुजारता है, इसलिए अधिक जिम्मेदारी माता पर ही आती है।

अपने बच्चों को अच्छा, सच्चा और श्रेष्ठ व्यक्ति बनाने के लिए माता का समझदार और सुशिक्षित होना जरूरी है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि माँ के अतिरिक्त शेष सभी सदस्यों को चाहे जिस ढंग से रहना चाहिए। बच्चे के निर्माण में माता की भूमिका प्रथम है अवश्य, पर परिवार में अन्य सदस्य भी होते हैं, जिनसे कि घर का वातावरण बनता है। उनके रहन-सहन, व्यवहार और बोलचाल का भी बच्चों पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। इसलिए माँ के सुशिक्षित, समझदार और सुसंस्कारी होने के साथ-साथ परिवार के अन्य सदस्यों को भी अपना रहन-सहन तथा प्रवृत्ति नियंत्रित और अनुशासित रखनी चाहिए।

बच्चों का मन जब घर के वातावरण से दुःखी हो उठता है तो वे अपना संतोष बाहर खोजने लगते हैं। इस वितृष्णा का कारण प्रमुख रूप से घर का वातावरण कलहपूर्ण होना है। घर के सदस्य आपस में मनमुटाव रखते हों या माता-पिता में रोज तनाव पैदा होता हो तो इस कारण होने वाले कुहराम अथवा सूनेपन से बच्चे भयभीत हो उठते हैं और वे इस वातावरण से यथासाध्य अलग रहने की कोशिश करते हैं। एक तो यह बिलगाव तथा दूसरे घरेलू वातावरण का संस्कार उन्हें आवारा और उद्दंड बना देता है।

बच्चों के कुमार्गगामी होने की परिस्थितियाँ माता-पिता के स्वभाव में रहने वाली त्रुटियों से भी बनती हैं। यह तो सभी जानते हैं कि बच्चे अनुकरण से सीखते हैं। पिता में सिगरेट पीने या मदिरापान करने की आदत होती है तो बच्चे भी स्वाभाविक ही दुर्व्यसनी होंगे। माँ झूठ बोलती हो या परिवार के बुजुर्ग सदस्यों का निरादर करती हो तो बच्चों में भी अशिष्टता और उद्दंडता जन्मेगी। माता-पिता की प्रत्येक प्रवृत्ति का बच्चों के अपरिपक्व मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ता है और वे बेरोक-टोक अपने माता-पिता की अनुकृति बन जाते हैं।

प्रायः घर के वयस्क सदस्य बच्चों को योग्य और सच्चरित्र बनाने के लिए, मेहनती व लगनशील बनाने के लिए तरह-तरह से प्रेरित किया क... हैं, पर यदि स्वयं उसके विपरीत आचरण किया जा रहा हो. ...

सारे प्रयास व्यर्थ चले जाते हैं। स्वभावत: अनुकरणप्रिय बच्चा अपने पिता को सिगरेट पीता देखकर समझता है कि यह अच्छा काम है, क्योंकि उसके लिए तो घर के लोग ही आदर्श हैं और वह भी सिगरेट पीने अथवा माता-पिता की दूसरी गंदी आदतों का अनुकरण करने लगता है। डाँट-डपट कर उन्हें मना किया जाता है, तो वे चोरी-छुपे करने लगते हैं और समझाया-बुझाया जाता है, तो उनके मन में यह प्रश्न उठता है कि जब यह काम खराब है, तो ये लोग क्यों कर रहे हैं? कई बच्चे पूछ भी उठते हैं और उस समय अभिभावक निरुत्तर हो जाते हैं।

गलतियाँ करने पर बच्चों की पिटाई भी की जाती है। वैसे तो पिटाई करना मात्र बच्चों के मन में हीनता या कुंठा की ग्रंथियाँ बनाता है। अकारण जब पीटा जाता है तो वह और भी ज्यादा हानिकारक होता है। ऐसे में उन्हें यह समझाना कि हम बड़े हैं, इसलिए तुम्हें पीट सकते हैं, उन्हें दूसरे बच्चों के साथ मार-पीट करने को उकसाता है। जब वे दूसरे छोटे बच्चों के साथ मार-पीट करते हैं, तो भी उन्हें डाँटा-फटकारा जाता है। इस तरह उन्हें हर बात में डराने, दबाकर रखने का कोई अर्थ समझ में नहीं आता। या तो हम उन्हें निर्जीव खिलौना समझकर यह व्यवहार कर रहे होते हैं अथवा दुर्बल को दबाने की नीति बरतते होते हैं।

इसीलिए संतान के लिए उत्तराधिकार में संपत्ति छोड़ने की अपेक्षा उन्हें गुणवान और सच्चरित्र बनाना अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया है। उनके चरित्र का विकास अनुशासन पर निर्भर है। अनुशासन ऐसा न हो, जो वे ऊपर से लादा हुआ या जबरन अनुभव करें, वरन् उनमें ऐसी मनोभूमि का विकास किया जाए, जिससे कि वे गुणों का महत्त्व समझें और उन्हें अर्जित करने के लिए स्वेच्छया मर्यादाओं को निबाहें। स्मरणीय है, यह कार्य न कठोरता से संभव है और न क्रूरतापूर्ण दमन से, वरन् इसके लिए प्रेम और प्रोत्साहन की आवश्यकता है।

कई अभिभावक बच्चों में फिजूलखर्ची की प्रवृत्ति पैदा न होने देने के लिए उन्हें जेब-खर्च देना एकदम अनुचित समझते हैं। यदाकदा बच्चे माँगते भी हैं, तो उन्हें बुरी तरह डाँट देते हैं। लाड़-प्यार की अधिकता से बच्चों को अनाप-शनाप खर्च करने के लिए पैसा देना जितना बुरा है, उतना ही बुरा है

उन्हें खर्च करने के लिए एकदम कुछ भी न देना। अपने दूसरे साथियों को बाजार में खर्च करते देखकर बच्चों में वैसी ही ललक पैदा होना स्वाभाविक है। यदि उसे निर्दयतापूर्वक दबा दिया जाए तो बच्चों में असंतोष का भाव आ जाता है। इससे बचने के लिए होना यह चाहिए कि उन्हें निश्चित जेब-खर्च देने के साथ-साथ खर्च करना भी सिखाया जाए। कहीं वह भूल के कारण अनुचित खर्च करता हो, तो उसके लिए समझाया जाए।

कई बच्चे चिड़चिड़े और जिद्दी स्वभाव के होते हैं। बात-बात पर मचलना, जिद करना या रोना उनकी आदत बन जाती है। ऐसा तभी होता है, जबकि बच्चा अपने को उपेक्षित समझ रहा हो या उस पर समुचित ध्यान न दिया जा रहा हो। प्राय: बच्चों के लिए खाना खिला देना, नहला देना, कपड़े बदलना और स्कूल भेज देना ही पर्याप्त समझा जाता है। शेष समय माँ को अपने कामों से फुरसत पाकर बच्चों से बातचीत करने, उनके मनोरंजन का ध्यान रखने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। ऐसी परिस्थितियों में बच्चा अपने को घर का महत्त्वहीन सदस्य मान लेता है और अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करने को जिद करने लगता है।

बच्चे के लिए घर महत्त्वपूर्ण अंग है। उनके साथ बातचीत करने, हँसने-बोलने के लिए पर्याप्त समय निकालकर कहानियों, नीति-कथाओं, अच्छी शिक्षाओं के साथ-साथ बालसुलभ जिज्ञासाओं का समाधान भी करना चाहिए। बालकों की प्रत्येक गतिविधि पर निगाह रखें कि वह बाहर क्या करता है ? स्कूल में उसकी क्या प्रगति है ? कैसे लड़कों के साथ रहता है ? दूसरों के साथ वह कैसा व्यवहार करता है ? आदि बातों की जानकारी रखी जाए तो बच्चों में उत्पन्न होने वाली कितनी ही विसंगतियों का निपटारा किया जा सकता है। यह निगरानी गुप्तचर की तरह नहीं, वरन् मित्रों की तरह हो और मित्र की भाँति ही उसे सही दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा दी जाती रहे।

इस प्रकार सजगता और सावधानी से बच्चों में अच्छे संस्कार उत्पन्न किए जाएँ तथा उन्हें सही दिशा दी जाए तो बच्चों के चरित्र और भविष्य के निर्माण की आवश्यकता एक बड़ी सीमा तक पूरी की जा सकती है तथा उन्हें योग्य नागरिक और सच्चरित्र व्यक्ति बनाया जा सकता है।

बालकों के निर्माण में अभिभावकों के उत्तरदायित्व

प्रसिद्ध बाल मनोवैज्ञानिक डॉ० ओनील ने बाल समस्याओं का वर्णन करते हुए अपनी पुस्तक में एक घटना उद्धृत की है। वे लिखते हैं—"एक दिन मेरे क्लीनिक में एक बच्चे को लाया गया। पिता ने कहा कि इसे चोरी करने का दुर्व्यसन लग गया है। हमने तो पूरा प्रयास कर लिया, अब आप ही इसे छुड़वा सकते हैं।" डॉ० ओनील ने बच्चे को अध्ययन के लिए अपने पास रोक लिया। पता चला बच्चे की आयु १३ वर्ष थी। इसके बावजूद उसके पिता ने उसके लिए आधी टिकट खरीदकर रेलवे को जानबूझकर धोखा दिया। उम्र पूछी जाने पर पिता ने उम्र कम बता दी। पिता की इस हरकत को बच्चे ने बड़ी गहराई से देखा और पूछा, तो पिता ने ऐसे ही हल्के से जबाव से बात समाप्त कर दी। बालक के मन में यह अंतर्द्वंद्व चलता रहा एवं उसने यह सोचा कि पिता ने सरकार की चोरी की व कोई गलत काम इसे नहीं माना। यहीं से उसकी चोरी की आदत आरंभ हुई, क्योंकि उसके विकसित हो रहे बालक मन ने उसे कभी अनैतिक-नैतिक सोचने पर मजबूर ही नहीं किया।

डॉ० ओनील लिखते हैं कि जो पिता स्वयं गलत काम करता है, वह अपने बच्चे से क्यों यह आशा रखता है कि वह चोरी की आदत छोड़ देगा। पिता व बच्चे दोनों की चिकित्सा एक साथ की गई। पिता ने उसी मूल्य का टिकट खरीदा व फाड़ दिया। बच्चे ने बात का महत्त्व समझा व चोरी की आदत छोड़ दी।

रोजमर्रा के जीवन में हम देखें तो पता चलता है कि हम स्वयं ही जानबूझकर या अनजाने में अपने बच्चे को झूठ बोलने की शिक्षा देते हैं। वह घटना तो चुटकुले के रूप में अक्सर याद की जाती है, जिसमें एक बालक ने आगंतुक से कहा—"पिताजी कह रहे हैं कि अमुक आए तो कह देना घर में नहीं हैं।" वस्तुतः यहीं से बालक के मन में कुसंस्कार जड़ जमाना आरंभ करते हैं। सत्य एक ऐसा गुण है, जिसकी उपेक्षा-अवज्ञा यदि अभिभावकगण ही करने लगें, तो बालक क्यों कर उसका महत्त्व समझेगा? कभी-कभी तो हम दूसरों से नहीं स्वयं अपने बच्चों से भी झूठ बोल बैठते

हैं, झूठे वायदे कर देते हैं और इस प्रकार उनके मन में यह बात बिठा देते हैं कि सत्य का कोई महत्व नहीं।

बच्चों को सत्यनिष्ठ बनाने के लिए उन्हें यह विश्वास दिलाना होगा कि सच बोलने में, ईमानदारी बरतने में, सदाचारी रहने में किसी प्रकार की कुटिलता, होशियारी नहीं बरतनी पड़ती, जबकि झूठ बोलने वाला उसे छिपाने के लिए कई झूठ बोल जाता है, ठग, चोर, बेईमान बनता है। आवश्यक है कि बचपन से ही सत्य बोलने की आदत डाली जाए। इसके लिए क्या किया जाए? पहली बात तो यह कि माँ-बाप स्वयं सच बोलें। झूठे माँ-बाप अपने बच्चों में सत्य के प्रति कभी आस्था नहीं पैदा कर सकते। महात्मा गाँधी ने सत्य का पाठ अपने पिता से ही पढ़ा। उनके पिता राजकोट रियासत में एक उच्च पदाधिकारी थे, किंतु सत्य बोलने के कारण उन्हें राजा का कोपभाजन बनना पड़ा और वे जेल भेज दिए गए। थोड़े दिनों बाद उन्हें छोड़ दिया गया, परंतु सत्यनिष्ठ होने की उनकी ख्याति तब और फैल गई। माँ-बाप के ज्वलंत उदाहरण ने बालक मोहनदास में सत्य के प्रति ऐसी निष्ठा पैदा की कि उसने उसे अपने जीवन का एक अंग बना लिया।

दूसरी आवश्यकता यह है कि ऐसा वातावरण बच्चों को मिले कि वे सचाई को जीवन नीति मानने लगें। दूसरे शब्दों में इसे सत्संग भी कह सकते हैं। आदर्श व्यक्तियों अथवा उनकी पुस्तकों के सतत् संपर्क में बच्चों को रखा जाए। बचपन से ही सत्यनिष्ठ महापुरुषों की कथा-गाथाएँ सुनाकर मदालसा व विनोबा की माँ की तरह हर माता अपनी संतानों में ये संस्कार डाल सकती हैं। बच्चे के संगी-साथी ऐसे हों जैसा कि माता-पिता अपने बच्चों को बनाना चाहते हैं। फैशनपरस्त, फिजूलखर्च, बात-बात में बहाना बनाने वाले बच्चों के साथ तो अपने बालक को रहने ही न दिया जाए।

बच्चे प्रायः भय के कारण झूठ बोलते हैं। उन्हें यह समझाया जाए कि भूलें तो सबसे होती हैं। ऐसे में अपनी कोई गलती की पुरानी घटना को सुनाया जा सकता है। उन्हें यह लगेगा कि हम से जो भी गलती हुई है, वह अस्वाभाविक नहीं है। अभिभावक यदि बच्चों को भयरहित कर प्रोत्साहित करें, तो बच्चे के मन में सत्य के प्रति सही माने में आस्था पैदा होगी।

सत्य अकेला ही काम का नहीं। यह भी बालकों को बताया जाना चाहिए कि सत्य शील युक्त हो। सत्य अप्रिय हो तो प्रतिद्वंद्विता और खड़ी कर देता है। गोस्वामी जी ने सत्य को ध्वज, तो शील को पताका की उपमा दी है। पताका के सहारे ही ध्वजा लहराती है। सत्य की शोभा इस प्रकार शील से ही है। शील अर्थात शालीनता, शिष्टाचार युक्त आचरण। महात्मा गाँधी जीवन भर सत्य और अहिंसा का प्रचार करते रहे। सत्य पर सदैव दृढ़ रहे, पर व्यवहार में हमेशा मुलायम। अपनी बात वे इस प्रकार कहते थे कि सुनने वालों को कर्ण कटु न लगे। मीठी वाणी से भी अपने विरोधी के हृदय तक अपनी बात उतार देना संभव है, इसकी झाँकी गाँधी जी के जीवन में देखी जा सकती है। सद्व्यवहार-शालीनता का बच्चों को अभ्यास सत्य के साथ कराया जाए तो कोई कारण नहीं कि सुसंस्कृत, सभ्य एवं ईमानदारी से युक्त एक मानव समाज बना सकना संभव न हो।

अभिभावक अपना कर्त्तव्य समझें और निबाहें

मानव-जीवन के अनेकानेक कर्त्तव्यों में संतान उत्पन्न करना और उसको यथायोग्य पालने का उत्तरदायित्व अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसे यों ही संयोग के आधार पर उठा लेना ठीक नहीं। जिसे इस महत्त्वपूर्ण विषय का ज्ञान न हो, उसे तब तक इस ओर से उदासीन रहना चाहिए, जब तक कि उसका उचित ज्ञान अर्जन न कर लिया जाए। संतानों के सुयोग्य अथवा अयोग्य होने पर ही परिवार, समाज तथा संसार का उत्थान-पतन निर्भर करता है।

निःसंदेह यह गहरे खेद का विषय है कि लोग खाने-कमाने, पहनने-ओढ़ने और तरह-तरह के मनोरंजन की ओर जितना ध्यान देते हैं, उसका शतांश भी संतानों के समुचित लालन-पालन की ओर नहीं देते, जबकि संतान का निर्माण उक्त सामान्य बातों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिस कर्त्तव्य पर पारिवारिक शांति, समाज का उत्कर्ष और संसार का हित दूर तक निर्भर हो, उस विषय को यों ही प्रकृति के भरोसे उपेक्षित रखना ठीक नहीं। ऐसा नहीं कि यह भूल समाज के सामान्य अथवा अशिक्षित लोग ही

करते हों, इस भूल के भागी वे लोग भी पाए जाते हैं, जो सभ्य, शिक्षित, संपन्न तथा समाज के अच्छे लोग माने जाते हैं।

भारतवर्ष के विषय में यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि यहाँ के लोग अधिकांशत: संतानोत्पत्ति से लेकर उसके पालन-पोषण तक प्रकृति तथा संयोग पर ही निर्भर रहते हैं। उनका संतान विषयक ज्ञान शून्य होता है। जो माता-पिता संतान-पालन की किसी प्रकार की शारीरिक, नैतिक शिक्षा प्राप्त किए बिना ही संतानोत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व उठा लेते हैं, उनके इस साहस पर आश्चर्य नहीं खेद भी होता है। जिनको संतानोत्पत्ति से पूर्व की तैयारी, उनके पालन-पोषण की समुचित विधि और उनका जीवन सार्थक तथा उपयोगी दिशा में उन्मुख कर सकने का ज्ञान नहीं होता, वे किस भरोसे और किस अधिकार से संतान-पर-संतान पैदा करते चले जाते हैं, यह बात कुछ समझ में नहीं आती।

इस सत्य से कौन इंकार कर सकता है कि संतान के उत्पन्न करने तथा पालन-पोषण के तरीके पर ही उनका मरना-जीना और उनका नैतिक उत्थान अथवा पतन अवलंबित है, किंतु वे लोग जो माता-पिता बन बैठे हैं या कुछ समय बाद बनने जा रहे हैं, इस विषय में जरा भी ज्ञान प्राप्त करने के उत्सुक नहीं होते और न उनको इस विषय में कोई शिक्षा देने की ही व्यवस्था है। समाज की सुव्यवस्था, उसकी शांति तथा उन्नति उसके नागरिकों पर निर्भर है और नागरिकों का चरित्र-निर्माण बाल्यकाल में हुए उनके पालन-पोषण की विधि पर निर्भर है, जिसका ठीक-ठीक निर्वाह तब तक हो ही नहीं सकता जब तक कि माता-पिता इस संबंध का समुचित ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते।

संतानों का होना मात्र ही सौभाग्य का विषय नहीं है। सौभाग्य का विषय है, उनका प्रबुद्ध तथा सुयोग्य होना। यदि केवल संतानों की संख्या ही सौभाग्य का आधार होती है तो बहुसंतानों वाले माता-पिता संसार में अधिक सुखी तथा संतुष्ट दिखाई देते, किंतु वास्तविकता इससे सर्वथा विपरीत दिखाई देती है। किसी भी बहु-संतानक परिवार के निकट संपर्क में आकर इस सत्य को स्पष्ट एवं मूर्त रूप में देखा तथा अनुभव किया जा सकता है। कठिनता से कतिपय परिवार ही सुखी तथा संतुष्ट दिखलाई पड़ेंगे, अन्यथा अधिकांश

क्लेश, कलह, आवश्यकताओं तथा अभावों से ही पीड़ित दिखलाई पड़ेंगे। संतानों के भरण-पोषण की आवश्यक व्यवस्था के अभाव तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा पालन एवं निर्माण की विधि के अज्ञान के कारण संतानें लोगों को अभिशाप बनी हुई हैं। संतानों की बहुतायत और तत्संबंधी अज्ञान मिलकर इस सौभाग्य को ऐसे दुर्भाग्य में बदल देते हैं, जिससे जीवन में निपट सकना असंभव जैसी बात है।

उत्तराधिकार में बालकों को पाँच रत्न दीजिए

धन-दौलत, खेती, जमीन-जायदाद, सोना-चाँदी, रुपया, व्यापार आदि अनेक माँ-बाप अपने बच्चों को उत्तराधिकार में देकर जाते हैं। इससे उनका कुछ काम भी चलता है, पर व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से ये सभी चीजें अपर्याप्त हैं। निम्न श्रेणी का व्यक्तित्व होने पर आलस्य और प्रमाद से ग्रसित व्यक्ति उत्तराधिकार में प्राप्त हुई संपदाओं को भी सुरक्षित नहीं रख सकता। वह दुर्गुणों के कारण इन चीजों को बरबाद कर देता है या उसे अज्ञानी और अव्यवस्थित पाकर लक्ष्मी स्वयं ही छोड़कर चली जाती है। बड़े परिश्रम और लगन के साथ संचय करके माँ-बाप अपने बच्चों के लिए कुछ इसलिए छोड़ते हैं कि हमारे पीछे भी बच्चे सुखपूर्वक रहेंगे, पर वे यह भूल जाते हैं कि सद्‌गुणों के अभाव में किसी की भी कितनी भी संपत्ति देर तक नहीं ठहर सकती। यदि उनमें सद्‌गुणों का समुचित विकास नहीं हुआ है तो उत्तराधिकार की संपत्ति उन्हें लाभ पहुँचाना तो दूर उलटे अनेक दुर्गुणों को बढ़ावा देने वाली सिद्ध होगी। गरीबों के बच्चे उतने नहीं बिगड़ते जितने अमीरों के। गरीब को रोज कमाना और रोज खाना पड़ता है। फालतू कामों के लिए उनके पास पैसा भी नहीं आता। इसलिए ये ऐय्याशी, विलासिता, व्यसन और बदमाशी के फेर में पड़ने से सहज ही बच जाते हैं, पर जिनके घर में सुविधा है, उनमें दुर्गुणों को पनपने में भी सुविधा रहती है। वे दुःखदायक परिस्थितियों में आसानी से कुछ ही दिनों में फँस जाते हैं।

अभिभावकों का कर्त्तव्य है कि अपने बच्चों के लालन-पालन का, खिलाने-पिलाने का, लाड़-चाव का, सुख-सुविधा का, पढ़ाई-लिखाई का,

ब्याह-शादी का और आजीविका से लगाने का समुचित ध्यान रखें, पर इतने तक ही सीमित हो जाने से उनका कर्त्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता। इन सब बातों से अधिक उत्तरदायित्व उन पर इस बात का है कि अपने बच्चों को सभ्य और सद्‌गुणी बनाकर जाएँ। शारीरिक, बौद्धिक और आर्थिक विकास को महत्त्वपूर्ण माना जाता है सो ठीक है, पर यह न भूलना चाहिए कि यदि बालकों में अच्छी आदतों का, सत्प्रवृत्तियों का, सद्‌भावनाओं का समुचित विकास नहीं किया गया है तो वह बलवान, विद्वान, धनवान कुछ भी क्यों न रहे, मानसिक दृष्टि से सदा दुखी ही रहेगा। सुख-सुविधा जुटा लेने से ही कोई व्यक्ति सुखी नहीं बन सकता है। साधनों के आधार पर सुविधा बढ़ सकती है, पर शांति और संतोष तो अच्छी मनोवृत्तियां के ही प्रतिफल हैं। कुसंस्कारी व्यक्ति कभी भी सुखी नहीं रह सकते, जीवन में कभी उन्हें शांति नहीं मिल सकती। वैभव के कारण दूसरों में अपने सुखी होने का भ्रम पैदा किया जा सकता है, पर वस्तुस्थिति सदा यही रहती है कि जिसका दृष्टिकोण ऊँचा है, सच्चा सुख केवल उन्हीं तक सीमित रहेगा।

जो अभिभावक अपने बच्चों को सचमुच सुखी बनाना चाहते हों, उनके भविष्य को उज्ज्वल बनाना चाहते हों, उनके लिए उचित है कि सद्‌गुणों की दैवी संपदा अपनी संतति को अधिकाधिक मात्रा में देने का प्रयत्न करें, पर यह दे सकना उन्हीं के लिए संभव है, जिनके पास स्वतः कुछ हो। धनी व्यक्ति ही अपने बच्चों के लिए धन छोड़ सकते हैं। सद्‌गुणी व्यक्ति ही उत्तराधिकार में अपनी संतति को निखरा हुआ व्यक्तित्व प्रदान कर सकते हैं। बच्चों को कुछ देने या छोड़ जाने की प्रसन्नता प्राप्त करने से पूर्व अभिभावकों को पहले कठोर श्रम करके स्वयं कमाई करनी पड़ती है, तब उस संग्रह को किसी के लिए दे सकना संभव होता है। सद्‌गुणों की पूँजी पहले हमें अपने स्वभाव में संचित करनी पड़ेगी। उसके बिना बच्चों को अच्छा बनाने की बात सोचना व्यर्थ है। ढपोलशंख की कथा है कि वह कहता बहुत था और करता कुछ नहीं था। हम बालकों को सज्जन बनने की शिक्षा दें और स्वयं दुर्जन बनें, तो अभीष्ट उद्‌देश्य किसी भी प्रकार पूरा न हो सकेगा। बच्चों को सुधारने से पूर्व हमें अपने आपको सुधारना होगा। बालकों की समझ अविकसित होती है, वे उपदेशों को अच्छी तरह समझ नहीं पाते, पर उनकी अनुकरण

शक्ति प्रबल रहती है, जो कुछ देखते हैं, उसे आसानी से सीख लेते हैं, उसकी नकल तुरंत करने लगते हैं।

(१) श्रमशीलता की शिक्षा—यदि हम चाहते हैं कि हमारे बालक आलसी और अकर्मण्य न बनें, तो हमें उनके सामने श्रमशीलता एवं कार्यसंलग्नता का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए और अपनी ही भाँति उन्हें भी किसी-न-किसी उपयुक्त कार्यक्रम में लगे रहने की दिनचर्या बना देनी चाहिए। व्यवस्था ऐसी करनी चाहिए कि बालक खिन्न होकर नहीं, वरन् मनोरंजन समझकर बताए हुए कार्यों में लगा रहे। उसका मन न लगता हो तो किसी दूसरे प्रकार से हेर-फेर कर देना चाहिए। खेलना भी एक काम है, यदि वह नियत समय और उचित वातावरण में संपन्न किया जाए। खेलों में जहाँ मनोरंजन के लिए स्थान रहे, वहाँ बुद्धि-विकास एवं सामाजिक प्रवृत्तियों की भी गुंजाइश रहनी चाहिए। घर के कई उपयोगी कामों में बच्चों को लगाए रहने और साथ ही उसका मनोरंजन होते रहने की अपनी परिस्थितियों के अनुरूप व्यवस्था कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति आसानी से बना सकता है। पुरस्कार और प्रशंसा के द्वारा भी बच्चों को उपयोगी कामों में लगे रहने की प्रेरणा दी जा सकती है। समय को व्यर्थ न जाने देना और उसे किसी न किसी उपयोगी कार्य में निरंतर लगाए रहने की आदत मानव जीवन की सबसे बड़ी श्रेष्ठता एवं विशेषता है। जिसने अपने बच्चों को यह आदत सिखा दी, उसने उनके लिए अपार संपत्ति उत्तराधिकार में छोड़ने की अपेक्षा कहीं अधिक उपकार किया है, यह मानना चाहिए।

(२) उदारता एक दिव्य गुण—उदारता दूसरा गुण है। बच्चे अपने भाई-बहिनों से अक्सर लड़ते-झगड़ते रहते हैं। खाने-पीने की वस्तुओं के लिए, खिलौनों के लिए या और किन्हीं वस्तुओं के लिए आपस में छीना-झपटी करते रहते हैं। इस आदत को जरा भी प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए, वरन् उन्हें यह सिखाना चाहिए कि मिठाई आदि कोई स्वादिष्ट चीज पहले अपने दूसरे भाई-बहिनों को बाँटें, तब खुद खाएँ। जो बच्चा अधिक स्वार्थी हो, उसी से यह बँटवारे का काम कराना चाहिए और उसे उचित बँटवारा करने पर, स्वयं सबसे पीछे और कम लेने की सज्जनता पर जी खोलकर प्रशंसा करनी चाहिए तथा इस कार्य की उपयोगिता भी

समझानी चाहिए। ईर्ष्यावश दूसरे बच्चों की चीजों को तोड़ने-फोड़ने या खराब करने की आदत किसी बच्चे में पड़ने लगी हो, तो उसे इसकी बुराई समझानी चाहिए और उपकार एवं स्नेह-बुद्धि जगाकर दूसरों की वस्तुओं को सँभालकर रखने एवं सहायता करने की प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिए। एक-दूसरे के कटु व्यवहार को सहना, भिन्नता में भी समन्वय उत्पन्न करना, भूलने और क्षमा करने की नीति रखना, अपने कर्त्तव्यों को स्मरण रखना और अधिकार को भूल जाना जहाँ भी स्वीकार किया जाएगा, वहाँ की शांति और प्रेम-भावना को कोई भी कारण नष्ट न कर सकेगा। उदारता पारिवारिक शांति की सबसे बड़ी गारण्टी है।

(३) सफाई और सादगी—सफाई तीसरा गुण है, जो बच्चों में आरंभ से ही उत्पन्न करना चाहिए। सफाई से प्रेम होने का अर्थ, मैल से घृणा। धोबी के धुले कपड़े चटपट पहन लेना और पुराने कपड़े उतारकर फेंक देना सफाई नहीं है, यह तो सौंदर्य के प्रति आकर्षण मात्र है। शरीर के किसी अंग पर मैल जमा न होने देना, रगड़-रगड़कर भली प्रकार स्नान करना, दाँत और जीभ ठीक तरह साफ करना, धुले कपड़े पहनना, अपने उपयोग की सभी चीजें ठीक रखना, यह सभी आदतें आवश्यक हैं, पर सबसे बड़ी बात यह है कि अपनी कोई वस्तु अव्यवस्थित पड़ी न रहने दी जाए। कपड़े, जूते, बरतन, पुस्तकें, कलम आदि वस्तुओं को बच्चे जहाँ-तहाँ पटककर दूसरे काम में लग जाते हैं। उन्हें सिखाया जाना चाहिए कि एक काम पूरा करके तब दूसरा आरंभ करना चाहिए और गंदगी से घृणा करनी चाहिए। गंदगी के उत्पन्न होते ही साफ करना चाहिए। हर वस्तु स्वच्छ और सलीके से रखनी चाहिए। गंदगी से घृणा न होना, उसे सहन करना, मानव स्वभाव का एक बहुत बड़ा दोष है।

तड़क-भड़क, शौकीनी, फैशनपरस्ती सफाई जैसी दीखते हुए भी उससे सर्वथा भिन्न है। सादगी ही सज्जनता की पोशाक है। जो लोग फैशन बनाकर अपने आपको गुड्डे-गुड़िया जैसा सजाते हैं, वे मानसिक दृष्टि से ओछे ही कहे जा सकते हैं। शालीनता का प्रधान चिह्न सादगी ही माना गया है और सभी सभ्रांत व्यक्ति उसी को महत्त्व देते हैं। चीजों को व्यवस्थित एवं सुसज्जित रूप से रखने की आदत आरंभ में छोटी ही क्यों न लगती हो, आगे

चलकर व्यक्ति को एक सुयोग्य व्यवस्थापक एवं सुरुचिसंपन्न व्यक्ति बना देती है। इसलिए बच्चों को बार-बार टोकते रहकर, उन्हें बराबर समझाते रहकर सँभालने और साफ रखने की आदत का अभ्यासी बनाना चाहिए। एक काम को पूरा करके दूसरे को हाथ लगाया जाए। यह आदत धैर्य और व्यवस्था का पूर्ण रूप है। कपड़े, पुस्तकें, बरतन, जूते आदि यथास्थान रखे बिना वे आगे का काम न करें, यह आदत डाली जा सके तो एक काम अधूरा छोड़कर दूसरे में लगने की, दूसरा छोड़कर तीसरे में संलग्न हो जाने की बालबुद्धि से बचा जा सकता है और बच्चा आगे चलकर इस आदत के कारण ही जीवन के हर क्षेत्र में सफलता का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। पूरा मन लगाकर जो भी काम किया जाएगा, उसमें जादू जैसी विशेषता होती है और हमेशा अधूरे मन से किए हुए काम आमतौर से फूहड़पन लिए होते हैं।

(४) समय का सदुपयोग—समय का पालन, नियत दिनचर्या के आधार पर यथासमय अपने सब काम करने की आदतें मानव-जीवन के सदुपयोग का महत्त्वपूर्ण गुण है। अधिकांश व्यक्ति समय का मूल्य नहीं समझते। ईश्वर ने संपत्ति के रूप में मानव-प्राणी को यही सबसे बड़ी, सबसे मूल्यवान वस्तु दी है। वह जो कुछ भी विभूति चाहे अपने समय का पूरा उपयोग करके उससे प्राप्त कर सकता है। समय के सदुपयोग का नाम ही पुरुषार्थ है। नियमित रूप से व्यवस्थित गति से चलती रहने वाली चींटी भी योजनों लंबी मंजिल पार कर लेती है, पर निठल्ला बैठने वाला गरुड़ भी जहाँ का तहाँ रहता है। फुरसत न मिलने की शिकायत तो हर आदमी करता है और अपने को कार्य-व्यस्त भी मानता है, पर सच बात यह है कि कोई बिरला ही अपने आधे समय का भी ठीक उपयोग कर पाता है। धीरे-धीरे अधूरे, अव्यवस्थित प्रकार से, आवश्यकता से अधिक समय मामूली बातों में लगाकर, अनुपयोगी कामों में लगे रहकर आमतौर से लोग अपनी आधी जिंदगी नष्ट कर लेते हैं। लिखित दिनचर्या बनाए बिना यह पता ही नहीं लगता कि आवश्यक और अनावश्यक कार्य कौन-कौन से हैं और कब कौन-सा कार्य, कितने समय में करना है? इसलिए बच्चों को समय का महत्त्व समझाना चाहिए, व्यस्तता का महत्त्व बताना चाहिए और समय की बरबादी की हानि से उन्हें परिचित रखना चाहिए। जल्दी सोना और जल्दी

उठना किसी भी प्रगतिशील जीवन में रुचि रखने वाले के लिए नितांत आवश्यक है। जिसके सामने कोई अनिवार्य कारण न हों, उन्हें सूर्य अस्त होने के तीन घंटे के बाद तक अवश्य सो जाना चाहिए और प्रातःकाल सूर्य उदय होने से दो घंटे पहले उठ-बैठना चाहिए। यह सोने और उठने की आदत जिन्होंने ठीक कर ली, वे बच्चे निश्चित रूप से पढ़ाई में अच्छे नंबरों से उत्तीर्ण होते रहेंगे। इस आदत के कारण प्रतिदिन कई महत्त्वपूर्ण घंटे अधिक कार्य करने के लिए मिल जाते हैं और उसको जिस भी कार्य में लगाया जाए, उसी में मनुष्य आशाजनक उन्नति कर सकता है। जिसने अपने समय का मूल्य समझ लिया और उसके सदुपयोग की ठान ली, समझना चाहिए कि उसने अपने जीवन को सफल बनाने की आधी मंजिल पार कर ली।

(५) शिष्टाचार और सज्जनता—पाँचवाँ गुण जो बच्चों को सिखाया जाना चाहिए वह है—नम्रता। सज्जनता, शिष्टाचार, मधुर भाषण, भलमनसाहत यही तो वह विशेषताएँ हैं, जिनसे आकर्षित होकर दूसरे लोग अपने ऊपर अनुकंपा करते, प्रशंसक बनते और समीपता में प्रसन्नता अनुभव करते हैं। पराए को अपना बनाने का गुण केवल मात्र सज्जनता के व्यवहार में ही सन्निहित है। अनुदार, रूखे, कर्कश, अशिष्ट, कटुभाषी व्यक्ति अपनों को भी पराया बना देते हैं और मित्रों से शत्रुता उत्पन्न कर लेते हैं। उसके विपरीत जिनकी वाणी में प्रेरणा घुली रहती है, आदर के साथ बोलते हैं और नम्रता और सज्जनता का परिचय देते हैं, उनके शत्रु भी देर तक शत्रु नहीं रह सकते, उन्हें प्रतिकूलता छोड़कर अनुकूल बनने के लिए विवश होना पड़ता है।

परिवार के विद्यालय में सज्जनता एवं मधुरता का अभ्यास छोटी आयु से ही बालकों को कराया जाना चाहिए। बड़े छोटों के साथ आप या तुम कहते हुए सम्मानसूचक शब्दों में ही बात करें। प्रताड़ना एवं भर्त्सना भरी बात भी कोई गलती करने पर कही जा सकती है, पर वह होनी नम्र और शिष्ट शब्दों में ही चाहिए। गाली-गलौज भरे, मर्मभेदी, व्यंग्यात्मक, तिरस्कारपूर्ण, कटु शब्द हर किसी को बुरे लगते हैं। छोटों पर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। जिह्वा पर इतना काबू होना चाहिए कि वह आवेश भरे दुष्ट शब्दों को बोलने न पाए। दुष्ट शब्दों की प्रतिक्रिया दुष्टतापूर्ण ही होती है, उससे केवल द्वेष बढ़ता है। कभी इनकार का अवसर आए तो उसमें भी अपनी असमर्थता नम्र

शब्दों में प्रकट करनी चाहिए। कटु शब्दों में इनकार करने से सामने वाले पर दुहरा प्रहार होता है और वह भी तिलमिलाकर दुहरी दुष्टता धारण कर लेता है। विवाद, इनकारी एवं प्रतिद्वंद्विता में भी शिष्ट भाषा और सामने वाले के सम्मान का ध्यान रखा जाना चाहिए। □

मुद्रक— युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा-३